****

AADINATH PURAN

(JAIN DHARM)

****

भगवान आदि ब्रह्मा

कालचक्र का वर्णन

काल की उपमा चक्र से दी जाती है। चक्र अथवा चक्कर का मतलब ही घूमनेवाला है। जैसे गाड़ी का चक्र (पहिया) घूमा करता है वैसे ही काल भी सदा घूमता रहता है, वह कभी भी एकसा नहीं रहता इस तथ्य को हम प्रतिदिन अपने जीवन काल में अनुभव करते हैं। तभी तो हम यह सुनते रहते हैं कि विश्व बड़ी तेजी के साथ बदल रहा है। यथार्थ में संसरण अथवा परिवर्तन का नाम ही संसार है और वह परिवर्तन सदा से होता चला आया है, यह कोई नया नहीं है। इसी में जीवन का चरम उत्कर्ष और चरम अपकर्ष निहित है।

उत्कर्ष अथवा उन्नति और अपकर्ष अथवा अवनति,ये दोनों सापेक्ष हैं। जहाँ उन्नति है वहाँ अवनति भी है और जहाँ अवनति है वहाँ उन्नति भी है। जो उठता है वह गिरता भी है और जो गिरता है वह उठता भी है। घूमते समय चक्के का जो भाग ऊँ चा उठता है,वह नीचे भी जाता है और जो भाग नीचे जाता है वह ऊ पर भी आता है। यही संसार की दशा है। एक बार वह उन्नति से अवनति की ओर जाता है तो दूसरी बार अवनति से उन्नति की ओर जाता है। जिस काल में यह विश्व अवनति से उन्नति की ओर जाता है उसे उत्सर्पिणी काल में यह विश्व अवनति से उन्नति की ओर जाता है उसे उत्सर्पिणी काल कहते है। और जिस काल में उन्नति से अवनति की ओर जाता है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। उत्सर्पिणी काल में मनुष्यों का अनुभव, आयु, बल वगेरह क्रय से बढता है ओर अवसर्पिणी काल में घटता है। जैसे चन्द्रमा की कलाएँ शुक्लपक्ष में क्रम से बढ़ती है और कृष्णपक्ष में क्रम से घटती है वैसी ही दशा इन दोनों कालों में मनुष्यों की होती है। अतः जैसे शुक्लपक्ष के बाद कृ ष्ण पक्ष और कृ ष्ण पक्ष के बाद शुक्लपक्ष आता है वैसे ही उत्सर्पिणी काल के बाद अवसर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के बाद उत्सर्पिणी काल आता है।

इन दोनों कालों में से प्रत्येक काल के छः-छः भदे हैं। 1. दुषमा दुषमा, 2. दुषमा, 3. दुषमासुषमा 4. सुषमादुषमा, 5. सुषमा और सुषमासुषमा ये छः भेद उत्सर्पिणी काल के हैं, और 1. सुषमासुषमा,2.सुषमा,3. सुषमादुषमा,4.दुषमासुषमा, 5. दुषमा और 6 . दुषमादुषमा, ये छः भेद अवसर्पिणी काल के हैं।

काल के विभाग को 'समा' कहते हैं। तथा 'सु' और 'दुर' उपसर्ग अच्छे और बूरे अर्थ में आते हैं। 'समा' से पहले 'सु' और 'दुर' उपसर्ग जोड़ने से सुषमा और दुषमा शब्द बनते हैं। अतः सुषमा का अर्थ अच्छा काल और दुषमा का अर्थ बुरा काल होता है। सुषमा और दुषमा शब्दों के अर्थ को लक्ष्य में रखकर यदि अवसर्पिणी काल के छः भेद किये जायें तो वे इस प्रकार होंगे- बहुत अच्छा काल, अच्छा काल, अच्छा बुरा काल, बुरा अच्छा काल बुरा काल और बहुत बुरा काल। इन्ही भेदों को उलटकर रखने से उत्सर्पिणी काल के छह भेद हो जाते हैं। इनमें से पहले काल का परिणाम 4 कोडाकोडी सागर, दूसरे काल का परिमाण 3 कोड़ाकोड़ी सागर, तीसरे काल का परिमाण 2 कोड़ाकोड़ी सागर, चौथे काल का परिमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकाड़ी सागर,पॉचवें दुषमा और छठे दुषमादुषमा काल का परिमाण 21-21 हजार वर्ष है। इस तरह 10 कोड़ाकोड़ी सागर का अवसर्पिणी काल और दस कोड़ा कोड़ी सागर का अवसर्पिणी काल और दस कोड़ाकोड़ी सागर का उत्सर्पिणी काल होता है। इन दोनों को मिलाकर 10 एक कल्पकाल होता है, जो 20 कोड़ाकाड़ी सागर का है।

भोग-भूमि अर्थात् सुखी जीवन का स्थान

एक समय इस भारत-भूमि में अवसर्पिणी का पहला भेद सुषमासुषमा नामक काल छाया हुआ था। उस समय यहाँ के मनुष्यों के शरीर वज्र के समान सुदृढ़ होते थे, तपाये हुए सुवर्ण के समान उनकी कान्ति थी, आकृति अत्यन्त सौम्य थी। सबके सब बड़े बलवान् , बड़े धीर-वीर, बड़े तेजस्वी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े पुण्यशाली होते थे। उनके वक्षस्थल बहुत विस्तृत, कद लम्बे और आयु भी लम्बी होती थी।

उस समय की स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही शरीर में सुदृढ़, कद में लम्बी और आयु में समान होती थी। स्त्रियाँ अपने पुरुषों में अनुरक्त रहती थी और पुरुष अपनी स्त्रियों में अनुरक्त रहते थे। स्त्री और पुरुष का प्रत्येक युगल ऐसा युगल ऐसा शोभित होता था, जैसे कल्पवृक्ष और कल्पज्ञता। प्रत्येक युगल जीवन-पर्यन्त बिना किसी क्लेश के भोगों का उपभोग करता था।

उन्हें न कोई परिश्रम करना पड़ता था, न कोई रोग होता था, न मानसिक पीड़ा और न अकाल में उनकी मृत्यु ही होती थी। ये बिना किसी बाधा के सुखपूर्वक जीवन बिताते थे। अनेक प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे, उनसे उन्हें जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी। भूमि और उसकी उपजपर किसी का एकाधिकार नहीं था। 'अधिकार' नाम की वस्तु से वे लोग परिचित ही नहीं थे। उनकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित थी और जो थी, वे अपने-अपने आस-पास के कल्पवृक्षों से पूरी हो जाती थी। अतः वे सुखी और सन्तोषी थे। उन्हें कल की चिन्ता नहीं थी। इसी से संचय की भावना का जन्म भी नहीं हुआ था। 'अपराध' किसे कहते हैं यह वे जानते ही नहीं थे।

अतः उस समय न कोई राजा था और न कोई प्रजा, न कोई जमींदार था न कोई काश्तकार, न कोई पूँजीपति था और न कोई गरीब, न कोई मिलमालिक था और न कोई मजदूर। यहाँ तक कि

किसी प्रकार का कोई तंत्र वहाँ नहीं था। सबके सब सच्चे अर्थ में 'स्वतंत्र' थे तथा सर्वत्र प्राकृतिक साम्यवाद् था।

बाह्यरूप में किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। सभी पुरुष सस्त्रीक थीं और सभी स्त्रियाँ पुरुषवाली थी। प्रत्येक युगल जीवन-पर्यन्त बना रहता था। जब आयु पूर्ण होती थी तो पुरुष को जम्हाई आती और स्त्री को छींक। उसी से दोनों का मरण हो जाता था। मरते समय प्रत्येक युगल एक पुत्र और पुत्री को जन्म देकर चल बसता था। दोनों शिशु अपना-अपना अँगूठा चूसकर बड़े होते थे और बड़े होने पर अपने माता-पिता का स्थान ले लेते थे। इस तरह जनसंख्या ज्यों की त्यों बनी रहती थी और उसकी वृद्धि की समस्या भी नहीं थी। इस तरह उस समय के स्त्री-पुरुषों का जीवन भोगप्रधान था इसलिये उसे भोग-भूमि उसे भोग-भूमि-काल कहा जाता है।

प्रथम सुषमासुषमा काल के पश्चात् दूसरा सुषमा काल आया। यद्यपि इस दूसरे काल में प्रथम काल-जैसा सुकाल तो नहीं रहा फिर भी सब व्यवस्था और स्थिति प्रथम काल के जैसी ही बनी रही। इसलिए जहाँ प्रथम काल में यहाँ उत्कृष्ट भोग-भूमि थी वहाँ दूसरे काल में मध्यम भोग-भूमि हो गई। इसके पश्चात् जब दूसरा काल पूर्ण हुआ और मनुष्यों के बल-विक्रम (ह्रास) होने के साथ ही साथ कल्पवृक्षों का भी ह्रास हो चला तब तीसरा सुषमादुषमा काल प्रारम्भ हुआ और मध्यम भोग-भूमि का स्थान जघन्य भोग-भूमि ने ले लिया।

कर्मभूमि एवं पुरुषार्थ की ओर

क्रम से तीसरा काल बीतने पर जब उसमें पल्य का आठवाँ भाग काल शेष रह गया तो इस भारत–भूमि में प्रचलित पूर्व व्यवस्था में बड़ी तेजी के साथ परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ और भोगों की भूमि में लालित–पालित जनता के सामने नई–नई समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। राजमहल में सुख की गोद में पले राजपुत्र की राज्य छिंन जाने पर जैसी दशा होती है, वैसी ही दशा उस समय की जनता की हुई।

ऐसे समय में जनता में से ही समय–समय पर कुछ महापुरुष आगे आये, जिन्होंने अपने बुद्धिबल से त्रस्त जनता का भय दूर किया और उसकी कठिनाइयों को दूर करने के उपाय सुझाये। वे महापुरुष मनु अथवा कुलकर कहलाये।

भोग–भूमि काल में कल्पवृक्षों से निकलने वाला प्रकाश इतना तीव्र होता था कि लोग सूरज और चांद तक से अपरिचित थे। किन्तु कल्पवृक्षों का प्रकाश मन्द पड़ जाने पर जब एक दिन आसाढ़ी पूर्णिमा की सन्ध्या को पूरब दिशा में उदित होता हुआ चन्द्रमा और पश्चिम में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलाई पड़ा तो लोग इन्हें देखकर व्याकुल हो उठे। उस समय प्रतिश्रुति नामक महापुरुष सब में विशिष्ट बुद्धिमान गिने जाते थे। अतः जनता एकत्र होकर उनके पास गई। उन्होंने कहा–भद्र पुरुषों! ये सूर्य और चन्द्रमा नाम के ग्रह हैं। अभी तक इनका प्रकाश कल्पवृक्षों के प्रकाश से छिपा रहता था, इसलिये ये नहीं दिखते थे। अब चूंकि समय के फेर से कल्पवृक्षों का प्रकाश मन्द पड़ गया है अतः दिखने लगे हैं। इनसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये।

प्रतिश्रुति के इन वचनों से उन लोगों को बहुत आश्वासन मिला। इससे उन्होंने प्रतिश्रुति की बहुत स्तुति की और प्रतिभुति प्रथम कुलकर कहलाये।

इसके पश्चात् क्रम से बहुतसा काल बीतने पर जब कल्पवृक्षों की प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गई और बुझते हुए दीपक के समान

उनका तेज नष्ट होने को ही था, एक दिन रात्रि के प्रारम्भों में आकाश में तारागण झिलमिल करते हुए दिखाई दिये । तारों को देखकर मनुष्य पुनः व्याकुल हो उठे । उस समय सन्मति नाम के एक महापुरुष सब में विशिष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे । सब उनके पास गये । सन्मति ने क्षणभर विचारकर उनसे कहा- भद्र पुरुषों ! ये तारे हैं । अबसे पहले भी ये विद्यमान थे, परन्तु कल्पवृक्षों के कारण छिपे हुए थे । अब इन वृक्षों की प्रभा क्षीण हो गई है, इससे स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं ।

यह सुनकर सब लोग निर्भय हुए । उन्होंने सन्मति की प्रशंसा और सम्मान किया। ये सन्मति दूसरे कुलकर अथवा मनु हुए ।

उक्त घटना के पश्चात् फिर समय बीतने लगा । जब बहुतसा काल बीत गया तो पुनः एक समस्या उपस्थित हुई । पहले सिंह व्याघ्र पशु भी सरल होते थे, वे किसी को सताते नहीं थे । लोग अन्य पशुओं की तरह ही अपने हाथ से उनका लालन-पालन करते थे । किन्तु अब वे भी मुँह फाड़ने और दाँत दिखाने लगे । ठीक ही है, जब मनुष्यों में ही वह बल-पौरुष और सुख-सन्तोष नहीं रहा और वे अपनी समस्याओं से परेशान रहने लगे तो पशु ही अपने जन्मजात स्वभाव को कबतक भूले रहते । सूरज, चाँद और तारे तो आकाश में रहते थे किन्तु पशु तो उनके रात-दिन के सहवासी थे । अतः उनकी भयंकर गर्जना से भयभीत हो लोग उस समय के सबसे बुद्धिमान महापुरुष क्षेमंकर के पास गये और बोले-देव ! जिन सिंह व्याघ्र आदि पशुओं को हमलोग अपनी गोद में बैठाकर खिलाते थे और जो बिना किसी उपद्रव के हमलोगों के साथ-साथ रहा करते थे, आज वे ही पशु हमें अत्यन्त भयंकर दीख पड़ते है और अपनी दाडो तथा नखों से हमें चीर डालना चाहते हैं । इनसे वचने का हमें कोई उपाय बतलाइयें ।

क्षेंमकर कहने लगे-भद्र पुरुषों ! यह सब समय का फेर है । जब तक आपको इनसे भय उत्पन्न नहीं हुआ था, तब तक ये भी निर्भय थे । अब चूंकि आप में वह बल-पौरुष और निर्भयता नहीं रही, इसलिये इन्होंने भी रौद्ररूप धारण कर लिया है । अब आप लम्बे-लम्बे नख और दाढ़वाले पशुओं का साथ छोड़ दें और इनसे सावधान रहें ।

मनुष्यों ने वैसा ही किया और सदा से हिल-मिलकर रहते आये मनुष्यों और पशुओं के बीच में सबसे प्रथम भेद की रेखा खिंची।

इसके पश्चात् पुनः समय बीतने लगा और जैसे-जैसे समय बीतने लगा वैसे-वैसे मनुष्यों और हिंस्र पशुओं के बीच भेदकी रेखा गहरी और चौड़ी होती गई। कारण यह कि ज्यों-ज्यों उनसे अधिक भयभीत होते गये त्यों-त्यों व्याघ्र आदि पशु अति प्रबल और भयानक होते गये। और ज्यों-ज्यों वे अति प्रबल होते गये त्यों-त्यों मनुष्य उनसे अधिकाधिक डरने लगे। यद्यपि उनके साथ मनुष्यों ने सहवास छोड़ दिया था फिर भी अभी तक वे उनके बीच में ही रहते थे। अतः अब जब कभी वे मनुष्यों पर आक्रमण करने लगे। इससे यह एक नई समस्या उत्पन्न हुई। तब मनुष्य उस समय के विशिष्ट बुद्धिशाली क्षेमंकर कुलकर के पास गये। उन्होंने लाठी बगैरह से आत्मरक्षा करना बतलाया। इसके बाद फिर पहले की भाँति समय बीतने लगा। बहुत-सा काल बीत जाने पर फिर एक समस्या पैदा हुआ, जो पहले की समस्याओं से अत्यन्त गम्भीर थी और जिसमें मनुष्य जाति के पतन का स्पष्ट संकेत था। समस्या यह थी कि कल्पवृक्ष दिन पर दिन कम होते जाते थे तथा पहले जितनी सामग्री भी उनसे नहीं मिलती थी। अतः लोगों में विवाद होने लगे और वे कल्पवृक्षों के ऊ पर अपना-अपना अधिकार जतलाने लगे। तब उस समय के बुद्धिमान महापुरुष सीमंधर ने सोच विचारकर कल्पवृक्षों की सीमा मौखिक रूप से नियत कर दी।

बहुत समय तक यह व्यवस्था चालू रही। किन्तु जब घटते-घटते कल्पवृक्ष बहुत थोड़े रह गये और सामग्री भी बहुत थोड़ी देने लगे तो पारस्परिक विवाद ने उग्ररूप धारण किया और मनुष्य एक दूसरे के बाल नोचने पर उतारू हो गये। तब सीमंधर नाम के कुलकरने कल्पवृक्षों की मौखिक सीमा को झाडी वगैरह गाढ़कर चिह्नित कर दिया और इस तरह कल्पवृक्षों की सीमा को लेकर उत्पन्न हुआ विवाद शान्त हो गया।

इसके बाद बहुत-सा समय बीतने पर विमलवाहन नाम के सातवें कुलकर हुए। अब तक मनुष्य पशुओं को शौकिया पालते थे, उनसे कुछ काम नहीं लेते थे क्योंकि काम लेने की आवश्यकता ही

नहीं पड़ती थी, इसी से वे यह भी नहीं जानते थे कि इनसे कुछ काम लिया जा सकता है। विमलवाहन नाम के बुद्धिमान महापुरुष ने सवारी के योग्य पशुओं पर जीन, हौदा वगैरह कसकर सवारी करना सिखलाया।

फिर बहुत-सा समय बीतने पर चक्षुष्मान नाम के आठवें कुलकर हुए। इनसे पहले लोग अपनी सन्तान का मुख नहीं देख पाते थे, सन्तान को जन्म देते ही मर जाते थे। किन्तु अब सन्तान को जन्म देकर भी वे कुछ समय बाद तक जीवित रहने लगे। अतः वे सन्तान को देखकर बहुत घबराये कि यह क्या हुआ। चक्षुष्मान ने सब बातें समझाकर उनका भय दूर किया।

इसके पश्चात् यशस्वान् नाम के नौवें कुलकर हुए। इन्होंने जनता को अपनी सन्तानों को आशीर्वाद देना बतलाया। फिर क्रम से अभिचन्द्र नाम के दसवें और चन्द्राभ नाम के ग्यारहवें कुलकर हुए। इन्होंने सन्तान का लालन-पालन करना सिखलाया।

जब तक कल्पवृक्षों के कारण सूर्य की तीखी किरणें पृथ्वी तक नहीं पहुँचती थी तब तक वर्षा भी नहीं होती थी, किन्तु जब कल्पवृक्षों का लोप हो चला और उनमें इतनी शक्ति नहीं रही कि वे सूर्य की तीखी किरणों को पृथ्वीपर पड़ने से रोक सके तब आकाश में मेघ दिखाई देने लगे और थोड़ी-थोड़ी वर्षा भी होने लगी। धीरे-धीरे वर्षा का जोर बढ़ता गया और नदी-नालों की सृष्टि हो चली। अब लोगों के सामने यह समस्या पैदा हुई कि इन्हें कैसे पार किया जाये। तब मरुदेव नाम के कुलकरने नावों के द्वारा नदी पार करने की शिक्षा दी।

तेरहवें कुलकर प्रसेनजित के समय में एक और समस्या उत्पन्न हुई। इनसे पहले जो बच्चे पैदा होते थे उनके साथ जरायु नहीं आती थी। धीरे-धीरे उत्पन्न हुए बच्चों के शरीर पर मांस की एक पतली झिल्ली रहने लगी। प्रसेनजित ने इस झिल्ली को फाड़ना सिलखाया।

प्रसेनजित् के पश्चात् चौदहवें कुलकर नाभिराय हुए। इनके समय में उत्पन्न हुए बालक को नाभि में लम्बा नाल लगा आने लगा। इसे काटना बतलाया। इसी से नाभिराय के नाम से प्रसिद्ध हुए।

नाभिराय के समय में वर्षा ने ऋतु का रूप धारण कर लिया

था। आकाश में काले-काले सघन मेघ प्रकट होते थे और समस्त आकाश में जहाँ-तहाँ जाते थे। मेघों की गम्भीर गर्जना से पहाड़ियाँ प्रतिध्वनित हो उठती थी। उसे सुनकर मयूर मस्त हो जाते थे। और वर्षा के जल कणों से आर्द्र शीतल वायु उनके फैले हुए पंखों के साथ खिलवाड़ करने लगती थी। गरजते हुए मेघों से गिरती हुई जलधार को देखकर ऐसा लगता था मानों कल्पवृक्षों का क्षय हो जाने के शोक से पीड़ित हो अम्बर दहाड़े मार-मार कर रूदन कर रहा है।

समय-समय पर वर्षा के होने से पृथ्वी में अनेक अंकुर उगने लगे और धीरे-धीरे बढ़ने लगे। उन्होंने कल्पवृक्षों का स्थान ले लिया। समस्त पृथ्वी तरह-तरह के खाद्य और अखाद्य उपज से श्यामल हो गई। किन्तु जनता उसका उपयोग करना नहीं जानती थी। वह बार-बार ललचाई हुई दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखती थी और देखकर भ्रम में पड़ जाती थी। जब वह जीवन की चिन्ता से व्याकुल हो उठी तो नाभिराय के पास गई और दीनतापूर्वक बोली- 'स्वामी ! हमारे जीवनदाता कल्पवृक्ष हमें अनाथ करके लुप्त हो गये। अब हम कैसे जीवित रहें ? पृथ्वी पर कल्पवृक्षों के स्थान में और तरह-तरह के वृक्ष उगे हैं, उनमें तरह-तरह के फल भी लगे हुए है। वे हिल-हिलकर हमें बुलाते भी हैं। हम उनके पास जायें या नहीं और उनके फल खायें या नहीं। वे हमें मारेंगे तो नहीं ? देव ! आप सब जानते है और हम मूर्ख हैं। अतएव दुखी होकर आपके पास आये हैं। आप हमें जीवन का उपाय बतलायें।

भद्रपुरुषों ! ये वृक्ष तुम्हारे योग्य हैं, इसमें तुम्हें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये। किन्तु इन विषवृक्षों का सेवन नहीं करना चाहिये। उस ओर वे औषधियों हैं और वे जो लाठी से खड़े हैं, इनें मीठा रस भरा हुआ है। दाँतों से काट-काटकर या किसी भारी वस्तु से कुलचकर इनका रस सेवन करना चाहिये- नाभिराय ने दयार्द्र हो हाथ के इशारे से लोगों को बतलाया। तथा उन्होंने हाथी के गण्डस्थल पर मिट्टी के द्वारा थाली आदि बरतन बनाकर लोगों को दिखलाये।

उनके द्वारा बतलाए हुए उपायों से जनता बहुत ही सन्तुष्ट हुई और उसने नाभिराय का बहुत सन्मान किया।

पहले बतलाया है कि भोगभूमिकाल के मनुष्य सन्तोषी होते थे

उनकी सम्पूर्ण आवश्यताएँ कल्पवृक्षों के द्वारा पूर्ण हो जाती थी। इसी से उनमें अपराध करने की प्रवृत्ति भी नहीं थी। किन्तु आवश्यकता की पूर्ति में कमी पड़ने पर उनमें अपराध करने की नई प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। और ज्यों-ज्यों आवश्यकताएँ बढ़ती गई तथा उनकी पूर्ति में कमी आती गई त्यों-त्यों अपराधों की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। अतः उसको रोकने के लिए दण्डविधान आवश्यक हुआ।

प्रथम पाँच कुलकरों के समय में अपराधी को केवल 'हा' शब्द से दण्ड दिया जाता था, जिसका आशय है,- 'हाथ' ! बुरा किया। इसके पश्चात् पाँच कुलकरों समय में 'हाँ' माँ इन दो शब्दों के द्वारा अपराधी को दण्ड दिया जाता था, जिसका आशय है- 'हाय बुरा किया' आगे ऐसा मत करना।' शेष कुलकरों के समय में 'हा' 'माँ' 'धिक्' इन तीन शब्दों के द्वारा कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था' जिनका आशय है- 'हाय बुरा किया, आगे ऐसा मत करना, तुम्हें धिक्कार है।' इस तरह ज्यों-ज्यों मनुष्यों का नैतिक पतन होता गया त्यों-त्यों दण्ड की मात्रा भी बढ़ती गई।

इस तरह कालचक्र के परिवर्तन से भो-भूमि ने क्रम से कर्म भूमि की ओर पग बढ़ाया और भोगों में व्यस्त सुखी और शान्त जीवन में उत्पन्न हुई नई-नई कठिनाइयों से मनुष्यों को कर्म करने की प्रेरणा मिली। किन्तु अभी भी कर्मभूमि के आने में कुछ विलम्ब था और वह एक युगपुरुष की प्रतीज्ञा कर रही थी।

आदिनाथ के पूर्वभव

महाबल

इसी जम्बूद्वीप में मेरुपवर्त से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र है। वहाँ से हमेशा मुनिराज कर्मरूपी बन्धन को काटकर विदेह-शरीर रहित-होकर मोक्ष प्राप्त करते रहते हैं। इसलिये उस क्षेत्र का विदेह नाम सार्थक है। इस विदेह क्षेत्र में एक गन्धिल नाम का देश है, जो स्वर्ग के खण्ड की तरह प्रतीत होता है। इसके मध्य भाग में एक विजयार्ध नाम का बड़ा भारी पर्वत है। उस पर चारण ऋद्धि के धारक मुनि सिंह की तरह निर्भय विचरण करते रहते हैं।

उस पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक अलका नाम की नगरी है। उस नगरी का राजा अतिबल नाम का एक विद्याधर था। उसकी आज्ञा को समस्त राजा मुकुट की तरह अपने मतस्क पर धारण करते थे। वह बड़ा शूरवीर और विजेता था। सदा वृद्ध अनुभवी पुरुषों की संगति करता था, और अपनी इन्द्रियों को भी वश में रखता था। इसी से वह अपनी सेना की सहायता से बड़े-बड़े शत्रुओं को झटपट नष्ट कर देता था।

उस राजा की मनोहरा नाम की रानी थी। उसके अतिशय भाग्यशाली महाबल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र गुरुओं के समागम तथा पूर्वभव के संस्कार के सुयोग से समस्त विद्याओं में निपुण हो गया। महाराज अतिबल ने अपने पुत्र की योग्यता को प्रकट करने वाले विनय आदि सद्‌गुणों से प्रभावित होकर उसे युवराज बना दिया।

कुछ समय पश्चात् विषय-भोगों से विरक्त होकर राजा अतिबल ने जिनदीक्षा लेने का विचार किया और राज्याभिषेक पूर्वक सब राज्य अपने पुत्र महाबल को सौंपकर, बन्धन से छूटे हुए हाथी की तरह घर से निकल पड़े तथा वन में जाकर दीक्षा ले ली।

अतिबल के दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् महाबल ने राज्य की बागडोर सम्भाली। प्रायः राज्य पाकर राजा लोग जवानी, रूप, ऐश्वर्य और प्रभुत्व के मद में चूर हो जाते हैं, किन्तु महाबल राज्य लक्ष्मी को

पाकर पहले से भी अधिक निर्मद हो गया। उसने अपने राज्य से 'अन्याय' शब्द को नष्ट कर दिया और प्रजा को स्वप्न में भी भय और क्षोभ का अनुभव नहीं होने दिया।

उसके चार मंत्री थे, जो बुद्धिमान् स्नेही और दीर्घदर्शी थे। उनके नाम क्रमशः महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। ये चारों ही मंत्री राज्य के मूलस्तम्भ थे। उनमें स्वयंबुद्ध मंत्री सम्यग्दृष्टि था, शेष तीन मंत्री मिथ्यादृष्टि थे। यद्यपि उनमें इस तरह मतभेद था परन्तु स्वामी का हित करने में चारों ही तत्पर रहते थे।

एक बार स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करने के लिए मेरु पर्वत पर गया और उसके समीपवर्ती प्रदेशों की शोभा देखकर अत्यन्त आनन्दित हुआ। मेरुपर्वत के चारों ओर की पृथ्वी पर भद्रशाल वन है और पर्वत के ऊपर नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन है। ये चारों ही वन सदा फल फूलों से लदे हुए वृक्षों से अत्यन्त मनोरम प्रतीत होते हैं। इन वनों की शोभा निहारता हुआ स्वयंबुद्ध मंत्री मेरु पर्वत पर जा पहुँचा।

पहले उसने देवों से पूजित अकृत्रिम चैत्यालयों की प्रदक्षिणा दी। फिर भक्तिपूर्वक बारबार नमस्कार करके पूजा की। इस प्रकार क्रम से भद्रशाल आदि वनों में विराजमान अकृत्रिम जिनबिम्बों की वन्दना करके क्षणभर के लिए वह एक स्थान पर बैठ गया। इतने में ही उसने आकाश में विहार करने वाले दो मुनियों को देखा। वह तुरन्त उठकर खड़ा हो गया और जब मुनि सुख पूर्वक बैठ गये तो स्वयंबुद्ध मंत्री उन्हें नमस्कार करके उनके पास बैठ गया और विनय पूर्वक बोला–

'हे स्वामिन्! इस लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध, विद्याधरों का अधिपति राजा महाबल हमारा स्वामी है। मुझे यह संशय है कि वह भव्य है अथवा अभव्य है। कृपा करके मेरे इस सन्देह को दूर करें।

जब स्वयंबुद्ध मंत्री चुप हो गया तो उनमें से आदित्यगति नाम के अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे–हे भव्य! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है। वह इसी जम्बुद्वीप के भरतक्षेत्र में दसवें भव में प्रथम तीर्थङ्कर होगा। मैं संक्षेप में तुम्हें उसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ, जहाँ उसने धर्म का बीज बोया था।

इसी जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में

गन्धिला नामक देश है । उसमें सिंहपुर नाम का नगर है । उस नगर में श्रीषेण नाम का राजा था । उसकी सुन्दरी नाम की स्त्री थी । उन दोनों के दो पुत्र थे- बड़े पुत्र का नाम जयवर्मा था और छोटे का नाम श्रीवर्मा । छोटा पुत्र श्रीवर्मा माता-पिता को अत्यन्त प्रिय था । तथा अन्य सबलोग भी उससे अनुराग करते थे । अतः श्रीषेण ने उसे ही राज्य दिया और बड़े पुत्र जयवर्मा की उपेक्षा कर दी । इससे जयवर्मा को बड़ा विराग हुआ और उसने जिनदीक्षा ले ली ।

अभी उसे दीक्षा लिए अधिक दिन नहीं हुए थे कि एक दिन उसने आकाश में आते हुए एक विद्याधर को देखा । उसे देखकर जयवर्मा ने यह निदान किया कि आगामी भव में मुझे भी विद्याधर होने का सौभाग्य प्राप्त हो । वह अपने मन में ऐसा सोच ही रहा था कि इतने में ही एक भयंकर सर्प ने उसे डस लिया और वह मरकर अपनी मानसिक भावना के अनुसार विद्याधरों का अधिपति महाबल हुआ ।

इतना कहकर मुनिराज पुनः बोले-'भद्र'! आज रात को महाबल ने दो स्वप्न देखें हैं । एक स्वप्न में उसने देखा कि अन्य तीन मंत्रियों ने उसे बलपूर्वक किसी कीचड़ में फँसा दिया है और तुमने उसे कीचड़ से निकालकर सिंहासन पर बैठाया है। दूसरे स्वप्न में उसने अग्नि की प्रदीप्त ज्वाला को प्रति समय क्षीण होते देखा है। इन दोनों स्वप्नों को देख वह तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठा है । इसलिए तुम शीघ्र चले जाओ। उसके कहने से पहले ही तुम्हारे मुख से इन दोनों स्वप्नों को सुनकर वह बड़ा विस्मित होगा । और फिर तुम जो कुछ कहोगे वह प्रसन्नता से उसे करेगा । उसका पहला स्वप्न उसके आगामी भव में प्राप्त होने वाली विभूति का सूचक है और दूसरा स्वप्न उसकी आयु के ह्रास का सूचक है । अब उस की आयु केवल एक माह की ही शेष है। अतः शीघ्र जाकर उसके कल्याण का प्रयत्न करो ।

मुनिराज के वचन सुनकर स्वयंबुद्ध कुछ व्याकुल हुआ और शीघ्र ही मुनिराज को नमस्कार कर अपने नगर लौट आया । जैसे ही वह महाबल के पास पहुँचा, उसे प्रतीक्षा करते हुए पाया । उसने मुनिराज ने जो कुछ कहा था वह सब उसने महाबल से निवेदन कर दिया ।

बुद्धिमान महाबल ने अपनी आयु थोड़ी जानकर धर्मध्यान में

अपना चित्त लगाया। उसने अपने उद्यान के जिन मंन्दिर में आष्टाह्निक पूजा का आयोजन किया और अपना राज्य अपने अतिबल नामक पुत्र को सौंपकर वहीं दिन बिताने लगा । तत्पश्चात् उसने गुरु की साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्त के लिए सब परिग्रह छोड़कर सल्लेखना व्रत अंगीकार किया । जब अन्तिम समय आया तब उसने अपना मन विशेष रूप से पंचपरमेष्ठियों में लगाया । दोनों हाथों को जोड़कर उसने मस्तक से लगाया और मन ही मन नमस्कार मंत्र का जाप करते हुए तथा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना करते हुए स्वयंबुद्ध मंत्री के समान सुखपूर्वक प्राण छोड़े ।

आदिनाथ भगवान की महत्वपूर्ण जानकारी

1.	पूर्व भव का नाम	–	बज्रनाथ
2.	पूर्व भव की जन्म स्थान	–	पुण्डरीकिनी
3.	पूर्व भव का जन्म स्थान का क्षेत्र	–	जम्बूद्वीप के विदेह में
4.	तीर्थंकर प्रकृति किस भव में बंधी	–	वजनाभि चक्रवर्ती
5.	पूर्व भव पिता का नाम	–	वजसेन
6.	पूर्व भव दीक्षा गुरु	–	वजसेन
7.	आगमन स्थान	–	सर्वार्थसिद्धि
8.	वर्तमान के पिता	–	नाभिराज
9.	गर्भ तिथि	–	आषाण कृष्ण 2
10.	गर्भ नक्षत्र	–	रोहिणी
11.	जन्म तिथि	–	चैत्र कृष्ण 9
12.	जन्म समय	–	प्रातःकाल
13.	जन्म नक्षत्र	–	उत्तराषाढ़
14.	ज़न्म राशि	–	धनु
15.	आयु	–	84लाख पूर्व
16.	कुमार काल का समय	–	20लाख पूर्व

महाबल से – ललितांग देव

इधर महाबल की मृत्यु होने से उसकी नगरी में शोक छाया हुआ था, उधर दूसरे ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ नामक विमान में आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। कल्पवृक्षों के द्वारा पुष्पों की वर्षा हो रही थी, दुंदुभिका गम्भीर शब्द निरन्तर बढ़ता जाता था। नन्दन-कानन के साथ अठखेलियां करता हुआ मन्द-मन्द वायु बह रही था। सब ओर से जय-जयकार करते हुए देवगण चले आ रहे थे।

उपपाद शय्या पर, सोकर उठे हुए तरुण पुरुष की तरह बैठा हुआ ललितांग देव यह सब देखकर विस्मित था। 'मैं कौन हूँ, यहाँ कहाँ से आया हूँ, यह मनोहर स्थान कौन सा है ? ये लोग क्यों प्रसन्न हैं ?' वह अभी इन्हीं विचारों में उलझा था कि तुरन्त उसके अन्तस्तल में ज्ञान का उदय हुआ और उसकी उलझनें सुलझ गई। उसने जाना- 'यह स्वर्ग है ये प्रणाम करने वाले देव है, यह विमान है, ये मन्द-मन्द मुस्काती हुई अप्सरायें हैं। पूर्वभव में मैं महाबल था। यह मेरे त्याग का सुफल है।

इतने में ही कुछ देवों ने उच्चस्वर से जयघोष किया और मस्तक नवाकर निवेदन किया- 'स्वामिन् ! स्नान की सामग्री तैयार है। पहले स्नान करें, फिर जिनेन्द्र देव की पूजा करें। तत्पश्चात् देवसेना का निरीक्षण करें, फिर नाट्यशाला में जाकर देवनर्तकियों का मनोहर नृत्य देखें और फिर देवियों का सन्मान करें। देवत्व प्राप्ति का इतना ही तो फल है।

ललितांग ने उठकर सब कार्य किये। अन्त में वह अपनी देवाङ्गनाओं के बीच में पहुँचा और सब कुछ भूल गया। समय बीतता जाता था किन्तु प्रतीत ऐसा होता था कि कल ही यहाँ आया हूँ।

जब लम्बी आयु का एक बहुत बड़ा भाग बीत गया तो ललितांग को एक स्वयंप्रभा नाम की नवीन मंजरी अत्यन्त प्रिय होती है वैसे

ही ललितांग को वह अत्यन्त प्रिय हुई और वह उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया। कभी वह उसके साथ नन्दनकानन में विहार करता तो कभी निषधाचल पर जाकर रमण करता। कभी मेरु पर्वत के जिनालयों की वंदना करता तो कभी नन्दीश्वर द्वीप में जाकर पूजन करता । इस तरह स्वयंप्रभा के साथ विहार करते हुए उसकी आयु के शेष दिन भी पूरे हो चले और एक दिन जन्म से उसके वक्षस्थल पर पड़ी हुई माला ऐसी म्लान हो गई, मानों मृत्यु ने ही उसका आलिंगन कर लिया है।

मृत्यु के आगमन की इस सूचना से ललितांग अधीर हो उठा। उसके शरीर की कान्ति मन्द पड़ गई। मुखपर दीनता आ गई। अब उसे स्वर्ग में भोगे हुए विगत सुख याद आने लगे। किन्तु उनकी स्मृति से उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि भुक्त सुख भी दुःख बनकर उसे रुलाने आये हैं। उसे सर्वत्र मृत्यु की दाया दृष्टिगोचर होती थी। उसकी यह दशा देखकर उसे सेवक देव भी म्लानमुख हो गये, किन्तु वे बेचारे कर ही क्या सकते थे ?

ललितांगदेव की माला मुरझाने का समाचार परमाणु की गति से भी द्रुतगति से उस स्वर्ग में ओर से छोर तक फैल गया। क्षय-चिकित्सालय में किसी क्षयरोगी की आसन्न मृत्यु का समाचार पाकर जैसे समस्त रोगी क्षणभर के लिए सिहर उठते हैं वैसी ही दशा इस समाचार को सुनकर उन स्वर्गवासियों की हुई। किन्तु जैसे इस मृत्युलोक में रात-दिन मनुष्यों को मरते हुए देखकर भी हम क्षणभर के लिए उद्विग्न होते हैं और फिर अपनी जीवनयात्रा में व्यस्त हो जाते है वैसे ही वे स्वर्गवासी भी पुनः अपने आमोद-प्रमोद में मस्त हो गये किन्तु उनमें जो कुछ समझदार थे वे सम्बोधन करने के लिये ललितांग के पास आये और उसका विषाद दूर करते हुए बोले- 'धीरवीर'! अपनी धीरता का स्मरण करके शोक को दूर करो। जन्म मरण से इस संसार में कौन बचा हुआ है ? इस स्वर्ग में जो आता है उसे एक दिन यहाँ से अवश्य जाना पड़ता है, क्योंकि आयु पूरी होने पर एक क्षण के लिए भी यह किसी को ठहरा नहीं सकता। यह सदा प्रकाशमान स्वर्ग भी मृत्यु से ग्रस्त देव को अन्धकारमय प्रतीतहोता है, क्योंकि उसका पुण्यरूपी दीपक बुझ जाता है। पुण्य क्षीण हो

जाने पर प्रियजन भी अप्रिय व्यवहार करने लगते हैं। कल तक जो सेवक आँखों के संकेत पर थिरकते थे वे ही मृत्यु की निशानी देखकर बुलाने पर भी नहीं सुनते। अधिक क्या कहें, स्वर्ग से च्युत होने का समय निकट आने पर देव को जो दुःख उठाना पड़ता है, वह दुःख नारकी को भी नहीं उठाना पड़ता। इस समय आप स्वयं इस बात का अनुभव कर रहे हैं। जैसे उदित हुए सूर्य का अस्त होना निश्चित है वैसे स्वर्ग के प्राप्त सुखों का विनाश भी निश्चित है। अतः हे आर्य! कुयोनियों में ले जाने वाले इस शोक को छोड़िये और धर्म में मन लगाइये। क्योंकि धर्म ही परम शरण है।

इस उपदेश से प्रबुद्ध होकर ललितांग ने धैर्य धारण किया और धर्म सेवनपूर्वक निर्भय होकर शरीर का परित्याग किया।

आदिनाथ भगवान की महत्वपूर्ण जानकारी

17. वर्तमान की माता का नाम	–	मरुदेवी
18. राज्य समय	–	63लाखपूर्व
19. दीक्षा तिथि	–	चैत्र कृष्ण 9
20. तीर्थंकर की शरीर उँचाई	–	500धनुष
21. ध्यान मुख दिशा	–	पूर्वदिशा
22. ध्यान समय	–	6माह
23. मुनिकाल का संयम	–	1000वर्ष
24. वैराग्य का कारण	–	नीलांजना मरण
25. दीक्षा समय	–	शाम
26. दीक्षा नगर	–	प्रयाग
27. दीक्षोपवास अवधि	–	8उपवास
28. दीक्षा सहपाठी	–	4
29. केवलज्ञान प्राप्त तिथि	–	फाल्गुन कृ.11
30. केवल ज्ञान प्राप्त स्थान	–	पुरिमताल
31. केवलज्ञान नक्षत्र	–	उत्त.षा.

ललितांग से वज्रजंघ

जम्बूद्वीप में मेरु से पूर्व दिशा की ओर विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है । उस देश में उत्पलखेटक नाम का एक नगर है । उस नगरी में राजा वज्रबाहु राज्य करता था । उसकी रानी का नाम वन्सुधरा था । ललितांग देव स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के वज्रजंघ नाम का पुत्र हुआ ।

धीरे-धीरे यौवन को प्राप्त होने पर उसका सौन्दर्य उसी तरह खिल उठा जैसे धीरे-धीरे बढ़कर पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति खिल उठती है । उसके काले कुटिल लम्बे केश, कानों तक विस्तीर्ण नेत्र, चन्दन से चर्चित विशाल वक्षस्थल और लम्बी-लम्बी भुजाएँ, किसे आकृष्ट नहीं करते थे । साथ ही वह समस्त कलाओं का ज्ञाता, विनयी और जितेन्द्रिय था । यद्यपि वह पूर्ण युवा हो गया था किन्तु स्वयंप्रभा देवांगना के अनुरागवश अन्य युवतियों से प्रायः खिंचा-सा ही रहता था।

ललितांग देव के स्वर्ग से च्युत हो जाने पर स्वयंप्रभा देवी की वही दशा हुई जो चकवे के विरह में चकवी की होती है । जैसे वर्षा-ऋतु में कोयल अपना कुडुकना बन्द कर देती है वैसे ही उसने भी अपना मनोहर आलाप बन्द कर दिया था। रात-दिन अपने पति के विरह में चुपचाप बैठी रहती थी । देवलोक के लिए यह एक नई बात थी । फिर भी एक देव ने उसका शोक दूर कर उसे सन्मार्ग में लगाया और उसने धर्मसेवन करते हुए प्राण त्याग किया ।

विदेह क्षेत्र में एक पुण्डरीकिणी नगरी है । वज्रदन्त नामक राजा उसका स्वामी था । उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमति था । स्वयंप्रभा देवी स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के श्रीमती नाम की पुत्री हुई । जैसे चैत्र मास में चन्द्रमा की कला लोगों को अधिक अनन्दित करती है वैसे ही नवयौवन में पदार्पण करने पर श्रीमती भी लोगों को अधिक आनन्दित करने लगी ।

एक दिन श्रीमती अपने राजभवन में सो रही थी । उस दिन उस नगर के उद्यान में विराजमान यशोधर मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त

हुआ। इसलिये स्वर्ग के देव अपनी विभूति के साथ उनकी पूजा करने के लिये आये। उनका कोलाहल सुनकर श्रीमती की नींद खुल गई। देवों को जाते हुए देखकर उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और वह तत्काल मूर्च्छित हो गई। सखियों के शीतलोपचार से उसकी मूर्च्छा दूर हुई किन्तु वह मौन ही रही।

इतने में उसके माता-पिता भी आ गये और अपनी कन्या की अवस्था देखकर दुखी हुए। उन्होंने श्रीमती से जानना चाहा कि कैसे क्या हुआ? किन्तु वह चुपचाप बैठी रही। तब अनुभवी वज्रदन्त अपनी रानी से बोले-'देवि! किसी रोग की आशंका करके व्यर्थ ही भयभीत न हों। तुम्हारी पुत्री पूर्ण युवती हो गई है। अब इसका यह विकार किसी मानसिक रोग का सूचक है। इतना कहकर वज्रदन्त ने पण्डिता धाय को पुत्री के पास छोड़ा और रानी के साथ अपने महल में चले गये।

पण्डिता धाय अत्यन्त चतुर थी। एकान्त होने पर बड़े प्यार से श्रीमती के शरीर पर हाथ फेरती हुई वह बोली-'पुत्रि ! मेरा नाम पण्डिता सार्थक है, मैं सब कार्यों की योजना करने में चतुर हूँ। इसके सिवाय मैं तुम्हारी माता के समान हूँ और प्रिय सखी भी हूँ। अतः मुझ से अपने मन का रोग बतलाओं, क्योंकि माता से रोग नहीं छिपाया जाता। प्रायः यौवन के आरम्भ में ऐसा हुआ ही करता है। अतः संकोच दूर करे अपनी मूर्च्छा का कारण कहो।'

धाय के वचन सुनकर श्रीमती ने अपना मुख नीचा कर लिया और लज्जा से मिश्रित स्वर में बोली-धाय माँ ! मैं लाज से भूमि में गड़ी जाती हूँ और अत्यन्त दुःखी हूँ। किन्तु तुम मेरी माँ के समान हो और मेरी चिरपरिचित हो। इसी से जो बात मैं किसी के सामने नहीं कह सकती थी वह तुमसे कहती हूँ। आज देवों का आगमन देखकर मुझे अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। पूर्व जन्म में मैं स्वर्ग में ललितांगदेव की स्वयंप्रभा नाम की देवी थी। मैंने उसके साथ अनेक भोग भोगे। उसके स्वर्ग से च्युत होने के छः महीने पश्चात् वहाँ से चयकर मैं यहाँ उत्पन्न हुई हूँ।'

इतना कहते-कहते श्रीमती कुछ भावावेश में आकर कहने लगी-सखि! देख, यह ललितांग अब भी मेरे मन में बसा हुआ है, ऐसा प्रतीत

होता हैं मानों किसी न टॉकी से उकेरकर उसे मेरे मन में अंकित कर दिया है। वह कितना सुन्दर है? कितना सौम्य है? वस्त्र, माला और आभूषणों से अलंकृत उसके शरीर को मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ। उसके हाथ का सुखद स्पर्श भी अनुभव करती हूँ।' यह कहते हुए श्रीमती ने ज्यो ही हाथ पसारा, उसकी मोहनिद्रा भंग हो गई और वह विरह से विकल होकर रोने लगी।

रोते-रोते वह बोली- 'धाय माँ' ! तू ही मेरे पति को खोज सकती है, तेरे सिवाय अन्य कोई यह कार्य नहीं कर सकता। तू सचमुख पण्डिता है, अतः ललितांग को खोजकर मेरे प्राणों की रक्षा कर। तेरे रहते हुए मुझे दुःख कैसे हो सकता है।' रुककर और कुछ सोचकर वह पुनः कहने लगी-मैंने एक उपाय सोचा है- मैं अपने पूर्वजन्म के वृतान्त को एक चित्रपट पर अंकित करके तुझे दूँगी। उसमें कुछ गूढ़ बातें भी अंकित होगी। उसे लेकर जाना उसे देखकर यदि कोई धूर्त झूठमूठ ही मेरा पति होने का ढोंग रचे तो उससे तू वे गूढ़बातें पूछना और जब वह उत्तर न दे सके तो अपनी मन्द-मन्द मुस्कराहट से उसे लज्जित करके चल देना।'

श्रीमती की बुद्धिमत्ता से भरी हुई बात सुनकर चतुर धाय को हँसी आ गई। उसने मुस्कराते हुए - 'बेटी ! मेरे रहते हुए तेरे चित्त का संताप नहीं रह सकता। भला, आम्रमंजरी के होते हुए क्या कोयल दुःखी रह सकती है? मैं तेरा यह कार्य अवश्य पूरा करके लौटूंगी। मेरे लिए इस लोक में कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। अतः तू शोक छोड़ और स्नान ध्यान आदि कर। मैं तेरे पति की खोज में जाती हूँ।

चतुरा धाय श्रीमती को समझाकर अपने घर गई और यात्रा की तैयारी करके, चित्रपट लेकर चल दी। घूमती-घूमती वह एक जिनालय में पहुँची और चित्रपट फैलाकर एक ओर बैठ गई। जिनालय में दर्शन करके के लिये जो आता वही चित्रपट को देखता और उसका आशय न समझ सकने के कारण देखकर चला जाता। कुछ देर के पश्चात् दो युवक आये और चित्रपट को देखकर आपस में बोले,ऐसा मालूम होता है कि किसी राजपुत्री को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ है, और उसने अपने पूर्वजन्म की सब घटनाएँ इस चित्रपट में अंकित कर दी हैं।'

दोनों मन ही मन मुस्कराते हुए धाय के पास आये और बोले-'यह किसका चित्रपट है ? इस राजपुत्री के पूर्वजन्म के पति हम ही है।

धाय सुनकर पहले तो खूब हँसी। फिर भी जब वे दोनों धूर्त अपनी बात दोहराते रहे तो उसने उनसे चित्रपट की गूढ बातों के बारे में प्रश्न किये। तब तो वे चुप रह गये और लज्जित होकर चल दिये।

इतने में वज्रजंघ ने जिनालय में प्रवेश किया। उसने पहले जिनालय की प्रदक्षिणा की, फिर जिनेन्द्रदेव की स्तुति करके उन्हें नमस्कार किया। पश्चात् वह उस स्थान पर आया जहाँ चित्रपट फैला हुआ था। चित्रपट को देखते ही वह अपने से बोला-'इस चित्रपट में अंकित वृत्तान्त तो मेरा जाना हुआ- सा लगता है। ऐसा जान पड़ता है मानों मैं अपने ही पूर्वजन्म का वृत्तान्त इस चित्र में देख रहा हूँ। यह ललितांगदेव सा प्रतित होता है और स्त्री का रूप तो ऐसा जान पड़ता है, मानों स्वयंप्रभा ही है। किन्तु इसमें कितने ही विषय गूढ़ क्यों हैं? यह ऐशान स्वर्ग दिखलाया है, यह उसमें श्रीप्रभ विमान चित्रित किया है। यह विमान के अधिपति ललितांगदेव के समीप स्वयंप्रभा देवी बैठी हई है।....

वज्रजंघ चित्र देखता जाता था और आपही आप बुदबुदाता जाता था। उसके चित्त में विचारों का तूफानसा उठ खडा हुआ था। वह कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता था। धीरे-धीरे उसकी व्याकुलता बढ़ती गई, उसने दोनों हाथ सरपर रखकर जैसे ही दीवार का सहारा लेना चाहा कि वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

परिचारकों के प्रयत्न से थोड़ी देर बाद जब वह सचेत हुआ तो उसने पण्डिता धाय को अपने पास बैठा हुआ देखा। उससे उसने पूछा-भद्रे! इस चित्र में मेरे पूर्व जन्म की बातें किसने अंकित की हैं, क्या तुम बतला सकती हो ?

धाय बोली- कुमार ! तुम्हारी मामी के एक श्रीमती नाम की पुत्री है। वह अभी अविवाहित है। उसी ने इस चित्र में अपना हस्त कौशल दिखलाया है। जिसकी खोज में अनेक राजकुमार लगे हुये है उसी ने मुझे आपको खोजने के लिए भेजा है। वह आपका पूर्वनाम ललितांग बतलाती है। परन्तु आप तो इसी भव में साक्षात् ललितांग हैं क्योंकि आपके अंग अत्यन्त सुन्दर है।

धाय की बात से प्रफुल्लित होकर राजकुमार वज्रजंघ ने वह चित्रपट अपने हाथ में ले लिया और अपना एक चित्र धाय के हाथ में दे दिया। दोनों चित्रों में प्रायः एक सी ही घटनाएँ अंकित थी। इसके पश्चात् राजकुमार जिनालय से निकलकर चला गया और धाय उस चित्र को लेकर श्रीमती के पास आई।

धाय के प्रफुल्लित मुख को देखते ही श्रीमती को आभास हो गया कि मेरी मनोकामना पूरी हुई है। वह धाय के मुख से सब समाचार सुनने के लिये आतुर हो उठी। किन्तु धाय को विनोद सूझ रहा था वह श्रीमती को बना-बनाकर खूब रस ले रही थी। अन्त में जब उत्कण्ठवश वह रुआसी हो गई तो चतुरा धाय ने अपनी चतुरता का बखान करते हुए कुमार वज्रजंघ का चित्रपट उसके सामने फैला दिया।

चित्रपट को देर तक गौर से देखकर श्रीमती ने सुख की साँस ली। उसे अपना मनोरथ पूर्ण होने का विश्वास हो गया। अब चतुरा धाय का मुख खुला। वह बोली- 'बेटी! विश्वास रख, अपने प्राणनाथ के साथ तेरा शीघ्र ही समागम होगा। अपना चित्रपट देकर राजकुमार के चुपचाप चले जाने से अविश्वास मत कर। मैने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है कि उसका मन तुझमें ही रमा हुआ है। जाते समय दरवाजे पर उसने बहुत देर लगाई। वह बार-बार मुझे देखता था। कभी हंसता था, कभी जंभाई लेता था, कभी कुछ स्मरण करता था, कभी दूर तक देखने लगता था और कभी गर्म-गर्म लम्बी श्वास लेता था। इन सब चिन्हों से जान पड़ा कि उसमें कामज्वर का प्रकोप हो रहा है। वह तेरे पिता राजा वज्रदन्त का भानजा है। कुलीन, चतुर और सुन्दर है। वर के योग्य सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। अतः तेरे माता पिता भी उससे तेरा परिणय करने में अवश्य सहमत होंगे। इसलिये तू धैर्य रख, पति के साथ तेरा शीघ्र ही समागम होगा।

इस तरह पण्डिता धाय ने वज्रजंघ के मनोहर समाचार देकर श्रीमती को सुखी करने की भरसक चेष्टा की। किन्तु वह उसके सम्मिलिन के विषय में निराकुल नहीं हो सकी।

इधर ये बातें हो रही थीं उधर राजा वज्रदन्त समाचार पाकर अपने बहनोई राजा वज्रबाहु को ले आये। साथ में उनकी बहिन और भानजा भी था। बहन, बहनोई और भानजे को देखकर वज्रदन्त बहुत

प्रसन्न हुए और उन्होंने उनका उचित आतिथ्य सत्कार किया।

आतिथ्य सत्कार के पश्चात् जब सब सुखपूर्वक बैठे हुए थे तब वज्रदन्त अपने बहनोई से बोले-मित्र ! आज आप स्त्री और पुत्र सहित मेरे घर पधारे हैं, इसलिये मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न है। हर्ष के इस अवसर पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपको न दे सकूँ। आपको देने का ऐसा सुअवसर फिर कब प्राप्त होगा। अतः मेरे घर में जो कुछ वस्तु आपको अच्छी लगती हो वह ले लीजिये।'

चक्रवर्ती वज्रदन्त के प्रेमपगे वचन सुनकर राजा वज्रबाहु बोले-महाराज! आज आपने मेरा जो सन्मान किया है वही मेरे लिये सब कुछ है। आपकी कृपा से मेरे यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं है फिर मैं आपसे किस वस्तु की प्रार्थना करूँ। नष्ट हो जाने वाली सम्पत्ति आपकी कृपा पूर्ण दृष्टि के सामने तुच्छ है। अतः आज आपने जो मुझे स्नेहदान दिया है उसी से मैं आज कृतकृत्य हूँ और अपने जीवन को सफल समझता हूँ। फिर भी मैं आपके वचनों की अवहेलना करने में असमर्थ हूँ अतः आपसे प्रार्थना करता हूँ कि अपनी पुत्री श्रीमती मेरे पुत्र वज्रजंघ को देने की कृपा करें। यह आपका भानजा है अतः इसकी कुलीनता में तो कोई सन्देह नहीं हो सकता। फिर जिस घराने में आपके स्वर्गीय पिता ने अपनी कन्या प्रदान की उसमें आपको अपनी कन्या प्रदान करते हुए कोई संकोच नहीं होना चाहिए। तथा लोक में ऐसी कहावत भी है कि अतिथि कन्या का अधिकारी होता है। अतः मुझे अनुगृहीत करें। धन सम्पत्ति तो मुझे आपसे अनेक बार मिल चुकी है। अतः इस बार कन्यारत्न देने की कृपा करें।

महाराज वज्रदन्त ने बड़ी प्रसन्नता के साथ इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। सुयोग्यवर के साथ सुयोग्य कन्या के विवाह की बात को मंत्री, सेनापति, पुरोहित सामन्त तथा नगर-निवासियों ने बहुत ही पसन्द किया और सबके सब विवाह की तैयारी में लग गये।

चक्रवर्ती वज्रदन्त की आज्ञा से विश्वकर्मा ने रत्न और सुवर्ण से विवाह मण्डप तैयार किया। मण्डप के मध्य में पद्मराग मणियों से बनी एक वेदी थी। मण्डप के भीतरी द्वार पर दोनों ओर मंगलद्रव्य रखे थे। राजभवन के आंगन में चन्दन का छिड़काव हो रहा था।

शुभलग्न समीप आने पर पवित्र जल से भरे हुए सुवर्णमय कलशों

से वर का अभिषेक किया गया। उस समय राजमन्दिर में शंख, घड़ियाल, दुन्दुभि वगैरह के शब्दों से खूब कोलाहल मचा हुआ था। सबलोग पुष्प और अक्षत फेंक-फेंककर वर कन्या को आशीर्वाद दे रहे थे। अभिषेक के बाद वर कन्या के वस्त्र धारण किये और दोनों प्रसाधनगृह में जाकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ गये। वहाँ उन्होंने विवाहमंगल के योग्य उत्तमोत्तम आभूषण पहने। पश्चात् वे विवाह वेदी पर पधारे। उस समय नगाड़ों का मधुर शब्द, गायिकाओं के मंगलगान और वन्दीजनों के मंगलपाठ के साथ मिलाकर सर्वत्र थिरकता सा प्रतीत होता था।

कन्यादान का शुभ मुहूर्त आते ही राजा वज्रदन्त ने सोने की झारी अपने हाथ में ली, और वज्रजंघ के हाथ पर जल की धारा छोड़ी। जब वज्रजंघ ने श्रीमती का पाणिग्रहण किया तो उसके कोमल स्पर्श के सुखानुभव से वज्रजंघ की आँखे क्षणभर के लिए निमीलित हो गई और श्रीमती का शरीर भी रोमांचित हो उठा।

विवाह के दूसरे दिन सन्ध्या के समय वर-वधू महापूत जिनालय में गये। आगे-आगे वज्रजंघ था और पीछे-पीछे श्रीमती थी। साथ में पूजन की सामग्री लिए हुए परिचारक गण थे। जिनालय में जाकर दोनों ने पहले प्रदक्षिणा दी फिर गर्भगृह में जाकर जिनेन्द्र भगवान की सोत्साह पूजा की।

इस प्रकार जब सब कार्य पूरे हो चुके तो वज्रदन्त महाराज ने वर-वधू को बिदा किया और साथ में हाथी, घोड़े, रथ, पयादे, रत्न वगैरह बहुत सा धन दिया।

जब वज्रजंघ श्रीमती के साथ अपने नगर में प्रवेश किया तो पुरवासियों का उत्साह और प्रेम मकानों की छतों पर से फूलों के रूप में बरसने लगा। चारों ओर से आशीर्वाद के साथ-साथ पुष्प और अक्षत की वर्षा होने लगी। राजमहल में पहुँचकर दोनों सुखपूर्वक रहने लगे।

एकदिन महाराज वज्रबाहु अपने महल की छत पर बैठे हुए आकाश की शोभा देख रहे थे। अचानक बादलों को बनता और बिगड़ता देखकर उन्हें संसार से विरक्ति हो गई। लक्ष्मी को बादलों की तरह ही क्षण क्षणभंगुर जानकर उन्होंने अपने पुत्र वज्रजंघ को राज्य सौंपा और जिनदीक्षा ले ली।

उधर चक्रवर्ती वज्रदन्त के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी। एक दिन वह राजदरबार में सिंहासन पर बैठे हुए थे। माली ने एक तुरन्त का खिला हुआ सुन्दर कमल का फूल राजा को भेंट किया। जैसे ही राजा ने उस कमल को हाथ में लेकर सूँघना चाहा वैसे ही उनकी दृष्टि कमल के अन्दर मरे हुए भौरे पर जा पड़ी उसे देखते ही वज्रदन्त विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे-कमल के रस का लोभी यह भौंरा रसपान करने के लिए आया था। रसपान करते-करते सूर्य अस्त हो गया और वह कमल में बन्द होकर मर गया। विषयों की चाह का ही यह फल है।

इतना सोचते ही चक्रवर्ती ने अपने साम्राज्य का भार, अपने बड़े पुत्र को देना चाहा। किन्तु पुत्र ने कहा-तात ! जब आप ही इसे छोड़ना चाहते हैं तो मुझे इसमें क्यों फँसाते हैं। जिस वस्तु को आप त्याज्य मानते हैं हमारे लिये भी वह त्याज्य ही है। अन्य पुत्रों ने भी यही उत्तर दिया। तब वज्रदन्त ने अपने पुत्र अमित तेज के बालपुत्र को राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ले ली।

वज्रदन्त तथा उसके पुत्रों के जिनदीक्षा ले लेने से रानी लक्ष्मी बहुत चिन्तातुर हुई। वह सोचने लगी कि इतने बड़े साम्राज्य की रक्षा एक छोटा सा बालक कैसे कर सकेगा। सोच-विचार कर उसने दो विद्याधर कुमारों के हाथ एक पत्र पेटिका में बन्द करके अपने जामाता वज्रजंघ और पुत्री श्रीमती के पास भेजा। पत्र में लिखा था- 'चक्रवर्ती वज्रदन्त अपने पुत्र और परिवार के साथ वन को चले गये हैं। उनके राज्य पर पुण्डरीक को बैठाया है। पुण्डरीक बालक है और हम दोनों सास-बहू स्त्री हैं। अतः बिना स्वामी के यह राज्य नष्ट हो रहा है। अब इसकी रक्षा का भार आप पर ही है। अतः शीघ्र आइये।

विद्याधर कुमार सम्वाद पेटिका लेकर आकाश मार्ग से चल दिये और शीघ्र ही उत्पलखेटक नगर जा पहुँचे। राजमन्दिर के द्वार पर पहुँचते ही द्वारपाल उन्हें भीतर ले गया। राजसभा में बैठे हुए वज्रजंघ को देखते ही दोनों ने उन्हें नमस्कार किया और भेंट के साथ वह पेटिका उनके सामने रख दी। पेटिका खोलकर वज्रजंघ ने पत्र ले लिया और उसे पढ़कर सब समाचार जानें। फिर उन्होंने वह पत्र रानी श्रीमती को दिया। पिता और भाइयों के दीक्षा लेने के समाचारों से श्रीमती बहुत दुःखी हुई। किन्तु वज्रजंघ ने उसे शान्त किया और उसके साथ परामर्श करके चलने का निश्चय किया

तथा शीघ्र ही बड़ी भारी सेना के साथ प्रस्थान भी कर दिया।

सेना क्रम से चलती हुई एक सरोवर के पास पहुँची और उसने वही पड़ाव डाल दिया। जब तक सेना के ठहरने की सब व्यवस्था हुई तब तक वज्रसंघ भी अपने शीघ्रगामी घोड़े पर वहाँ आ पहुँचे। मार्ग की धूलि और सूर्य के ताप से उनका सुख विवर्ण हो रहा था। वे तुरन्त ही अपने पटमण्डप में चले गये और सरोवर की लहरों से होकर बहने वाली शीतल वायु से मार्ग का भ्रम दूर करने लगे।

इतने में दमधर और सागरसेन नाम के दो मुरिाज आकाश मार्ग से विहार करते हुए वज्रजंघ के पड़ाव पर पधारे। दोनों मुनियों ने वन में ही आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की थी इसलिये वे चर्या के लिए वज्रजंघ के डेरे पर पधारे। मुनियों को देखते ही वज्रजंघ तुरन्त उठे और उन्हें विधिवत् पड़गाहा। फिर रानी श्रीमती के साथ विशुद्ध परिणामों से नवधा-भक्ति-पूर्वक आहार दिया। फलस्वरूप पंच आश्चर्य हुए।

भोजन कर चुकने के पश्चात् वज्रजंघ ने मुनिराज से पूछा हे नाथ ! ये मुनिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझे अपने भाई के समान प्रिय हैं, मैं इनके पूर्वभवों का वृत्तान्त जानना चाहता हूँ। मुनिराज कहने लगे - राजन् ! इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में वत्सकावती नाम का देश है। उसमें एक प्रभाकरी नाम की नगरी है। यह मुनिवर पूर्वजन्म में उसी नगरी में अतिगृध्र नाम का नगरी है। वह अत्यन्त विषयी था। उसने बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के कारण नरकायुका बन्ध किया और मरकर चौथे नरक में उत्पन्न हुआ। पूर्व जन्म में उसने प्रभाकरी नगरी के समीप एक पर्वत पर बहुतसा धन गाड़ रखा था। अतः वह नरक से निकलकर उसी पर्वत पर व्याघ्र हुआ।

एक दिन प्रभाकरी नगरी का राजा प्रीतिवर्धन अपने छोटे भाई को जीतकर लौटा और उसी पर्वत पर ठहरा। वह वहाँ अपने छोटे भाई के साथ बैठा हुआ था इतने में पुरोहित ने आकर कहा कि आज वहाँ आपको मुनिदान के प्रभाव से बड़ा लाभ होने वाला है। समस्या केवल यह है कि मुनिराज यहाँ कैसे प्राप्त हो सकेंगे ? इसका उपाय मैं आपको बतलाया हूँ - 'नगर में यह घोषणा करा दी जावे कि आज राजा के लिये बड़े हर्ष का अवसर है अतः समस्त पुरवासी अपने-अपने

घरों को सजायें और घरों के आँगन में तथा मार्ग में सर्वत्र जल छिड़ककर इस प्रकार फूल बखेर दें कि जरा सी भी जमीन दिखलाई न दे। ऐसा करने से नगर में जाने वाले मुनि नगर में न जाकर चर्या के लिए यहाँ आवश्य ही आयेंगे।'

पुरोहित के वचनों से सन्तुष्ट होकर राजा प्रतिवर्धन ने वैसा ही किया और पिहितास्त्रव नाम के मुनिराज एक महीने के उपवास के पश्चात् पारणा के लिये वहाँ पधारे। राजा ने उन्हें विधिपूर्वक आहर दिया। जिससे वहाँ पंच आश्चर्य हुए।

राजा अतिगृद्ध के जीव सिंह ने भी सब देखा, इससे उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। वह तुरन्त ही शान्त हो गया और परिग्रह तथा कषाय को त्यागकर एक शिला तलपर बैठ गया। अवधिज्ञानी मुनिराज की दृष्टि अकस्मात् उस सिंह पर पड़ी और वे तुरन्त ही उसका सब वृत्तान्त जान गये। उन्होंने राजा प्रीतिवर्धन से कहा- 'राजन्! इस पर्वत पर एक श्रावक समाधिमरण कर रहा है तुम्हें उसकी सेवा करनी चाहिये। वह भविष्य में भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव का चक्रवर्ती पुत्र होगा और उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेगा।'

मुनिराज के वचन सुनकर राजा प्रीतिवर्धन को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इधर-उधर देखने लगा कि कौन श्रावक वहाँ समाधि धारण किये हुए है। किन्तु उसे कोई भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। तब मुनिराज राजा के साथ सिंह के समीप गये। राजा ने सिंह की सेवा की और मुनिराज ने उसके कान में णमोंकार मंत्र सुनाया। अट्ठारह दिन तक निराहर रहकर उस सिंह ने समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा और दूसरे स्वर्ग में दिवाकर नाम का देव हुआ।

इस आश्चर्य को देखकर राजा प्रतिवर्धन के सेनापति, मंत्री और पुरोहित भी बहुत प्रभावित हुए। सभी ने राजा के पात्रदान की सहारना की। इससे वे मरकर उत्तम भोग-भूमि में उत्पन्न हुए और फिर वहाँ से मरकर दूसरे स्वर्ग में देव हुए।

इतना कहकर मुनिराज वज्रजंघ से बोले-राजन्! जब आप स्वर्ग में ललितांग देव थे तब ये सब आपके ही परिवार के देव थे सिंह का जीव वहाँ से चयकर आपका मतिवर नाम का मंत्री हुआ है। राजा प्रतिवर्धन के सेनापति का जीव स्वर्ग से चयकर आपका अकम्पन नाम

का सेनापति हुआ है । मंत्री का जीव स्वर्ग से चयकर आपका आनन्द नामक पुरोहित हुआ है । तथा पुरोहित का जीव स्वर्ग से चयकर आपका धनमित्र नाम का श्रेष्ठि हुआ है ।

जिस समय उस वन में राजा वज्रजंघ मुनिराज के मुख से उक्त वृत्तान्त सुनते थे उसी समय एक नेवला,एक सिंह,एक बन्दर और एक शूकर भी मुनि की ओर दृष्टि लगाये चुपचाप बैठे हुए थे । उन्हें देखकर वज्रजंघ ने पुनः मुनिराज से पूछा–'महाराज ! ये चारों जीव मनुष्यों से भरे हुए इस स्थान में भी कैसे निर्भय बैठे हुये हैं और आपके मुख की ओर निहारते हैं ? मुनिराज बोले–

राजन् ! पूर्वजन्म में यह सिंह हस्तिनापुर नामक नगर में उग्रसेन नामक वैश्यपुत्र था । उग्रसेन स्वभाव से ही अत्यन्त क्रोधी था । एक दिन उसने राजा के भण्डारियों को घुड़ककर भण्डार से बहुत सा घी और चावल निकालकर वेश्याओं को दे दिया । जब राजा ने सब समाचार सुना तो उसने इसे खूब पिटवाया । उससे मरकर यहाँ यह व्याघ्र हुआ है । और यह सूकर,पूर्वजन्म में राजपुत्र था । किन्तु बड़ा उद्धत और अविनयी था और अपने माता–पिता का भी कहना नहीं मानता था । एक दिन यह दौड़ा जा रहा था कि पत्थर के खम्भे से टकराकर इसका सिर फट गया और मरकर यह सूकर हुआ है । तथा यह बन्दर,पूर्वजन्म में नागदत्त नाम का वणिकपुत्र था । नागदत्त की छोटी बहन के विवाह के लिए अपनी दुकान के कुछ सामान ले रही थी । नागदत्त ने उसे भी ठगना चाहा, परन्तु कोई उपाय उसकी समझ में नहीं आया और वह इसी उधेड़बुन में मरकर यह बन्दर हुआ है । और यह नेबला पूर्वजन्म में इसी नगर में एक हलवाई था । वह बड़ा लोभी हलवाई मिठाई का लालच देकर मजदूरों से कुछ ईटे अपने घर डलवा लेता था । उनमें से कुछ ईटे टूट गई और वह छिपाकर मजदूरों से खूब ईटे अपने घर डलवाने लगा । एक दिन उसे दूसरे गाँव को जाना पड़ा । जाते समय वह पुत्र से कह गया कि मजदूरों को मिठाई देकर ईटों घर में डलवा लेना । किन्तु पुत्र ने वैसा नहीं किया । जब हलवाई लौटकर घर आया और उसे मालूम हुआ कि पुत्र ने उसका कहना नहीं किया तब वह बड़ा क्रुद्ध हुआ । उसने गुस्से में पुत्र का सिर फोड़ डाला और अपने पैर भी इसलिये तोड़ डाले कि ये चलते न होते तो मुझे आज

इतनी ईटों की हानि न उठानी पड़ती। अन्त में वह राजा के द्वारा पकड़ा जाकर मारा गया और मरकर यह नेवला हुआ है।

इतना कहकर मुनिराज वज्रजंघ से बोले– राजन्! आपके दान को देखकर ये चारों ही बहुत प्रसन्न हैं और इन चारों को ही पूर्वजन्म का स्मरण ही आया है जिससे ये बहुत उदासीन हैं। इससे आगामी आठवें भव में जब तुम ऋषभदेव तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे तब ये चारों भी मोक्ष प्राप्त करेंगे। आपकी रानी श्रीमती का जीव भी तब राजा श्रेयांस होकर उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करेगा।

यह सब वृत्तान्त सुनकर राजा वजजंघ अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने मुनिराज को अत्यन्त भक्ति के साथ नमस्कार किया और दोनों मुनि आकाशमार्ग से विहार कर गये।

राजा वज्रजंघ ने अपनी सेना के साथ उस दिन का शेष भाग उसी सरोवर के किनारे बिताया। पश्चात् वहाँ से चलकर पड़ावपर पड़ाव करते हुए पुण्डरीकणी नगरी पहुँचे। शोक से पीड़ित रानी लक्ष्मीमती अपने जामाता और पुत्री को देखकर कुछ आश्वस्त हुई। वजजंघ ने कुछ दिन रहकर बालक पुण्डरीक के राज्य को निष्कण्टक कर दिया और फिर अपने नगर में लौट आया।

एक दिन वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ अपने शयनागार में कोमल शय्यापर शयन करता था। शयनागार में सुगन्धित धूप जल रहा था। उस दिन सेवकगण झरोखों द्वारा खोलना भूल गये। अतः धुआँ उसी शयनागर में रुक गया। उससे उन दोनों के श्वास रुक गये और दोनों महानिद्रा में लीन हो गये जो धूप उन्हें सुखकर थी उसी से उनकी मृत्यु हो गई, संसार की शोचनीय स्थिति का यह कैसा ज्वलंत उदाहरण है।

वज्रजंघ से भोगभूमि में जन्म

वज्रजंघ और श्रीमती एक साथ प्राण त्यागकर पात्रदान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए। एक दिन दोनों खुले हुए आकाश के नीचे बैठे थे। इतने में उन्होंने दो चारण मुनियों को आते हुए देखा। दोनों मुनि आकाश से उतरे। उन्हें देखते ही वज्रजंघ का जीव अपनी स्त्री के साथ उठ खड़ा हुआ और दोनों मुनिराजों को नमस्कार किया। जब दोनों मुनि उन्हें आशीर्वाद देकर यथास्थान बैठ गये तो वज्रजंघ का जीव बोला – भगवन् ! आप कहाँ के रहने वाले हैं और कहाँ से आ रहे हैं ? आपके दर्शन से मेरा चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ है और ऐसा मालूम होता है कि आप मेरे परिचित बंधु हैं।

ज्येष्ठमुनि कहने लगे–आर्य! जब आप महाबल थे तब मैं आपका स्वयंबुद्ध नाम का मंत्री था। वहाँ से मरकर मैं प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। पश्चात् स्वर्ग से चयकर यह मानव जन्म पाया है। यह महातपस्वी मेरा छोटा भाई है। हम दोनों भाइयों ने दीक्षा लेकर तपोबल से अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त की है। हमने अवधिज्ञान से जाना कि आप यहाँ उत्पन्न हुए हैं आपको समझाने के लिये ही यहाँ आये हैं। आप केवल पात्रदान के फल से ही यहाँ उत्पन्न हुए हैं। महाबल के भव में भी आपने हम से केवल तत्वज्ञान प्राप्त किया था परन्तु भोगों की आकांक्षा के कारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकी थी। अब हम दोनों मोक्ष के प्रधान कारण सम्यग्दर्शन में निमित्त होने के लिये ही यहाँ आये हैं। अब आप सम्यक्त्व को ग्रहण करें, यही उसके ग्रहण करने का समय है। क्योंकि काललब्धि के बिना जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वीतराग सर्वज्ञदेव, उनके द्वारा प्रतिपादित आगम और उस आगम में कहे गये जीवादि तत्वों का निष्ठापूर्वक श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नहीं हो सकते। पदार्थ के यथार्थ रूप का दर्शन करानेवाला सम्यग्दर्शन ही धर्म का सर्वस्व है। वही मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी है और धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है। जो पुरुष

अन्तर्मुहूर्त लिये भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह संसार रूपी वृक्ष की जड़ को काट डालता है। इसलिये हे आर्य ! अर्हन्त देव की आज्ञा को प्रमाण मानकर तुम सम्यग्दर्शन को स्वीकार करो।

इस प्रकार मुनिराज के धर्मापदेश से प्रभावित होकर दोंनों स्त्री-पुरूषों ने प्रसन्नतापूर्वक सम्यक्त्व को ग्रहण किया। पश्चात् वे दोनों मुनि वहाँ से जाने के लिये उठे। वज्रजंघ और श्रीमती के जीव ने उन्हें नमस्कार किया। चलते समय दोनों मुनियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा- आर्य ! इस सम्यदर्शनरूपी समीचीन धर्म को कभी नहीं भूलना। इतना कहकर दोनों आकाशगामी मुनि शीघ्र ही वहाँ से विहार कर गये।

मुनियों के चले जाने के पश्चात् भी दोनों उन्हीं के विचारों में लीन रहे। वे सोचने लगे कि देखो, इन महापुरूषो ने कितनी दूर से आकर हम लोगों का उपकार किया है। सच है महापुरुष दूसरों का उपकार करने में सदा तत्पर रहते हैं।

आदिनाथ भगवान की महत्वपूर्ण जानकारी

32. समवसरण की चौड़ाई	-	12योजन
33. प्रथम देशना तिथि	-	फाल्गुन कृ.11
34. गणधर संख्या	-	84
35. मुनियों की संख्या	-	84हजार
36. केवली संख्या	-	20,000
37. केवली समय	-	1 लाख पूर्व
38. अवधि ज्ञानी	-	9,000
39. विक्रिया ऋद्धिधारी	-	20,600
40. विपुलमति मुनि	-	12,750
41. उपाध्याय मुनि संख्या	-	4,150
42. पूर्वधर मुनि संख्या	-	4,750
43. आर्यिका संख्या	-	35000

भोग भूमि से स्वर्ग में श्रीधर देव होना

भोगभूमि की आयु पूरी होने पर वज्रजंघ का जीव ऐशान स्वर्ग में श्रीधर नाम का देव हुआ। और श्रीमती का जीव सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छोड़कर उसी स्वर्ग में स्पयंप्रभ नाम का देव हुआ। सिंह,नकुल,बन्दर और शूकर के जीव भी उसी स्वर्ग में देव हुए।

एक दिन श्रीधर देव को ज्ञात हुआ कि हमारे गुरु प्रीतिंकर मुनिराज को, जिन्होंने भोगभूमि में जाकर उसे सम्यक्त्व ग्रहण कराया था, केवलज्ञान हुआ है। वह तुरन्त ही उनकी पूजा के लिये उत्तम सामग्री लेकर उनके पास पहुँचा और पूजा करने के पश्चात् नमस्कार करके उनसे पूछा–प्रभो ! महाबल के भव में जो मेरे तीन मंत्री थे वे आज कल कहाँ है ? केवली बोले–उन तीनों में से दो तो निगोद में हैं तथा शतमति मंत्री नरक में हैं।

यह सुनते ही श्रीधर देव नरक में शतमति के जीव को समझाने गया। श्रीधर के उपदेश से शतबुद्धि के जीव ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और नरक की आयु पूरी करके वह राजपुत्र हुआ। जब उसका विवाह हुआ तो उसी समय श्रीधर देव ने आकर उसे पुनः समझाया और उसने विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर ली। आयु पूरी होने पर वह स्वर्ग में देव हुआ और उसने अपने परोपकारी मित्र श्रीधर देव की कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए पूजा की।

श्रीधर देव से सुविधि मनुष्य

श्रीधर देव स्वर्ग से च्युत होकर,महावत्स देश के सुसीमा नगर में सुदृष्टि राजा की नन्दा नाम की रानी से सुविधि नाम का पुत्र हुआ। तरूण होने पर अपने मामा चक्रवर्ती अभयघोष की कन्या मनोरमा के साथ उसने विवाह किया। और स्वयंप्रभ नाम का देव, जो पूर्व भव में वज्रजंघ की रानी श्रीमती था,स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के केशव नाम का पुत्र हुआ। संसार की कैसी विचित्र स्थिति है कि जो पहले भव में प्यारी स्त्री थी वही इस भव में पुत्र हुआ। उस पुत्र पर राजा सुविधि का अत्यन्त प्रेम था जबकि पुत्र मात्र से प्रीति होती है तब यदि अपने पूर्वजन्म कोई प्रेमी मरकर पुत्र हुआ हो तब तो कहना ही क्या है।

सिंह, नकुल,बन्दर और शूकर के जीव भी स्वर्ग से च्युत होकर इसी वत्सकावती देश में राजपुत्र हुए और अपने योग्य राज्य लक्ष्मी पाकर न्यायपूर्वक प्रज्ञा का पालन करने लगे। एक बार वे चारों ही राजा चक्रवर्ती अभयघोष के साथ जिनेन्द्रदेव की वन्दना के लिए गये और सभी ने विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण करली तथा सब कठिन तपस्या करने लगे। किन्तु राजा सुविधि अपने पुत्र केशव के स्नेह वश जिन दीक्षा नहीं ले सका और वह घर में रह कर ही कठिन व्रतों का पालन करने लगा। जब जीवन का अन्त समय आया, उसने समस्त परिग्रह को त्यागकर समाधिमरण पूर्वक शरीर को छोड़ा और अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र हुआ। सुविधि का पुत्र भी निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करके उसी स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ। तथा बन्दर आदि के जीव वे चारों राजा भी मरकर 16 वें स्वर्ग में ही देव हुए।

अच्युतेन्द्र

वह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्ग में दिव्य भोगों को भोगता था और जिनेन्द्रदेव की पूजा किया करता था। जब उस की आयु पूरी होने में छह माह शेष रह गये तो एक दिन उसके कण्ठ में पड़ी हुई पुष्पमाला अचानक मुरझा गई। माला के मुरझाने से इन्द्र को यह मालूम हो गया कि अब मैं यहाँ से प्रस्थान करनेवाला हूँ। किन्तु इससे वह तनिक भी खेदखिन्न नहीं हुआ। और अपना चित्त जिनेन्द्र देव की पूजा तथा पंचपरमेष्ठी के चिन्तन में लगाया। जो लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं स्वर्ग के सुख को भी हेय समझते हैं वे ऐसे समय में भी अपनी अधीरता को नहीं छोड़ते।

आदिनाथ भगवान की महत्वपूर्ण जानकारी

44. मोक्ष की तिथि	–	माघ कृ.14
45. मोक्ष काल	–	उत्तराषाढ़
46. समवसरणकाल	–	1 लाख पूर्व में (1 हजार वर्ष 14दिन कम)
47. शिष्यसिद्ध हुए	–	90,900
48. समवसरण से मोक्ष मुनि	–	77,100
49. पूर्वभव देव आयु	–	33 सागर
50. विशेष पदवी धारक	–	मण्डलीक
51. कैवल्य नगर	–	पुरिमताल
52. धर्म अभाव	–	नहीं
53. निर्वाण भूमि से कितने मोक्ष पधारे	–	14 हजार
54. निर्वाण स्थल वंदना फल	–	32 करोड़ उप.
55. मुक्ति गये पीछे कितने केवली	–	अखण्ड केवल
56. तीर्थंकरों के बाद में मोक्ष गए	–	1844500000

अच्युतेन्द्र से सम्राट वज्रनाभि

सोलहवें स्वर्ग से च्युत होकर अच्युतेन्द्र' पुष्पकालावती देश की पुण्डरीकणी नगरी में राजा वज्रसेन और रानी श्रीकान्ता के वज्रनाभि नाम का पुत्र हुआ । तथा पूर्वाक्त व्याघ्र आदि के जीव भी उन्हीं राजा रानी के विजय, वैजयन्त,जयन्त और अपराजित नाम के पुत्र हुए । वज्रजंघ के भव में जो उसके मतिवर मंत्री, आनन्द पुरोहित,अकंपन सेनापति और धनमित्र सेठ थे वे भी मरकर वज्रनाभि के भाई हुए । श्रीमती का जीव केशव,जो अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह वहाँ से च्युत होकर उसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक् के उसकी स्त्री अनन्तमती से धनदेव नाम का पुत्र हुआ।

जब वज्रनाभि पूर्ण युवा हुआ तो उसका शरीर तपाये हुए सोने की तरह दमक उठा । किन्तु उसने अच्छे अच्छे शास्त्रों का अभ्यास किया था इसलिये यौवन आनेपर भी उसमें कामज्वर का प्रकोप नहीं हो सका । वह राजा विद्याओं में भी अति निपुण था और इस तरह लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही उसमें अनुरक्त थी । उसका मनोहर रूप,खिलती हुई व्यवस्था और विद्या को देखकर सभी उसकी ओर आकृष्ट होते थे ।

पिता ने उसे राज्यभार को वहन करने में समर्थ जानकर अपने ही सामने बड़े ठाटबाट से उसका राज्यभिषेक कराया और उसे शुभाशीर्वाद देकर जिनदीक्षा धारण करली । उधर वज्रसेन ने जिनदीक्षा लेकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त किया और इधर उनके पुत्र वज्रनाभि ने चक्ररत्न लेकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया । पिता ने कर्मों की सेनापर विजय पाई तो पुत्र ने शत्रुओं की सेनापर विजय पाई ।

एक दिन चक्रवर्ती वज्रनाभि अपने पिता वज्रसेन तीर्थङ्कर के समवसरण में गये। उनके मुख से रत्नपुत्र का स्वरूप जानकर,उन्होंने सम्पूर्ण साम्राज्य को तृण की तरह छोड़ देने का विचार किया । और तुरन्त ही अपने पुत्र को देकर तीर्थङ्कर के समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ।

दीक्षा लेने पर वज्रनाभि ने जीवन पर्यन्त के लिये हिंसा,झूठ,चोरी,स्त्रीसेवन और परिग्रहरूपी पाँचों पापों का मन, वचन और काय से त्याग किया । और उत्कृष्ट तपस्वी होकर एकाकी विहार करने लगे । अपने पिता तीर्थंकर वज्रसेन के पादमूल में उन्होंने उन सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन, मनन और पालन किया, जिनसे तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है । अर्थात् मुनिराज वज्रनाभि ने दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया विनयगुण को अपनाया,शील और व्रतों में कभी भी दूषण नहीं लगाया, वे निरन्तर ज्ञानाभ्यास में लगे रहते थे, संसार में उनकी कोई रुचि नहीं थी, अपनी शक्ति को न छिपाकर सदा तपश्चरण करते थे, त्याग की उन्हें प्रिय था, अन्य साधुजनों के आत्मकल्याण में कोई बाधा उपस्थित होने पर उसको दूर करने में सदा तत्पर रहते थे । किसी को रोग आदि हो जानेपर उसकी सेवा सुश्रुषा प्रेमपूर्वक करते थे,भगवान अरहन्त,आचार्य तथा ज्ञानी मुनियों के बड़े भक्त थे । सच्चे शास्त्रों के अनुरागी थे, सामायिक,वन्दना,स्तुति, प्रतिक्रमण,प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक कर्तव्यों में कभी भी हानि नहीं आने देते थे, पूर्णरूप से प्रतिदिन यथा समय इनका पालन करते थे । मोक्षमार्ग की प्रभावना करते रहते थे और धर्मात्माओं से अत्यन्त स्नेह करते थे ।

इन सोलह भावनाओं से उन्होंने तीर्थङ्कर नामक महापुरूष कर्म का बन्ध किया। और जब आयु का अन्त समय आया तो सन्यास धारण करके शरीर और आहार का ममत्व भी छोड़ दिया । वे अपने शरीर की सेवा न तो स्वयं ही करते थे और न किसी दूसरे से ही कराते थे इससे यद्यपि उनके शरीर में केवल हाड़ और चाम ही शेष रह गया था, फिर भी वे निश्चलचित से ध्यानारुढ़ थे । अन्त में उन्होंने ग्यारहवें गुणस्थान में प्राणों को त्यागकर सर्वार्थसिद्धि नामक विमान में जन्म लिया ।

अहमिन्द्रा

वह सर्वार्थसिद्धि नामक विमान ऊपर लोक के अन्तिम भाग से बारह योजन नीचा है । इसमें जन्म लेनेवाले जीवों के सब मनोरथ अनायास ही पूरे हो जाते हैं इसीलिए इसे सर्वार्थसिद्धि कहते थें । सर्वार्थसिद्धि में ऐसा कोई एक इन्द्रा नहीं होता जो अन्य देवताओं का स्वामी माना जाता है, बल्कि वहाँ का प्रत्येक देव अपने को इन्द्रा के तुल्य मानता है इसलिए उन्हें अहमिन्द्रा कहते हैं । उन अहमिन्द्रों में परस्पर न तो ईर्ष्या होती है और न कोई अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करता है । अतः वे सब परस्पर में बड़े प्रेम से रहते हैं और धर्मगोष्ठियों में अपने समय का सदुपयोग करते हैं । उनमें स्त्री समागम नहीं है, अतः वे परम सुखी रहते हैं क्योंकि स्त्रीसंभोग मन में मोह को पैदा करता हैं । शरीर में शिथिलता लाता है और तृष्णा को बढ़ाता है, अतः वह आकुलता का कारण है । और आकुलता के होते हुए सुख नहीं हो सकता । अतः अहमिन्द्रा बहुत सुखी होते हैं ।

चक्रवर्ती वज्रनाभि उन्हीं अहमिन्द्रों में उत्पन्न हुआ । और उसके अन्य भाई भी,जो पूर्व जन्मों में उसके साथी वगैरह थे, मरकर उसी सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। सब बहुत शान्ति के साथ अपना समय बिताते थे ।

3. ऋषभदेव का गर्भावतरण सु-स्वप्न

इस भरत क्षेत्र में भोगभूमियों की व्यवस्था बदलने का तथा कर्म भूमि की व्यवस्था आरम्भ होने का वर्णन पहले किया है। तथा उस समय में कुलकरों की उत्पत्ति भी बतलाई है। उन कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराज थे। वही उस समय के प्रमुख पुरुष थे, और इसी भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड के मध्य में उनका वासस्थान था। उनके मरुदेवी नाम की पत्नी थी। रूप, सौन्दर्य, कान्ति, बुद्धि आदि सग्दुणों से वह इन्द्राणी के समान प्रतीत होती थी। वह नाभिराज को प्राणों से भी अधिक प्रिय थी और वे सदा उनकी सम्मति का आदर करते थे।

जब तक यहाँ भोगभूमि थी तब तक ग्राम नगर आदि की रचना नहीं थी। जब कर्मभूमि की व्यवस्था चालू हुई तो नगरों की रचना का भी आरम्भ हुआ। सबसे प्रथम अयोध्या नगरी की रचना हुई। उसके मध्य में राजमहल था। महाराज नाभि अपनी पत्नी के साथ इस महल में निवास करने लगे। और जहाँ तहाँ बिखरे हुए मनुष्य वहाँ आ आकर बसने लगे।

अचानक एक दिन उस नगरी में आकाश से सुवर्ण की वर्षा होने लगी। यह देखकर जनसमूह अचरज में पड़ गया और सोचने लगा कि क्या पृथ्वी की तरह स्वर्ग में भी उलटफेर हो गया है ? फिर तो प्रतिदिन सोना बरसने लगा। जब सोना बरसते 2-6 मास बीते तो एक दिन मरुदेवी राजभवन में कोमल शय्यापर सोई हुई थी। उन्होने रात्रि के पिछले पहर में सोलह स्वप्न देखें। सबसे पहले उन्होने ऐरावत हाथी देखा। उसके गण्डस्थल से मद झर रहा था और वह जोर से चिंघाड़ रहा था। फिर उन्होने सफेद बैल देखा। वह भी गम्भीर शब्द कर रहा था। फिर एक सफेद सिंह देखा। फिर कमलासनपर विराजमान लक्ष्मीजी को देखा। हाथी उस लक्ष्मीजी का अभिषेक कर रहे थे। फिर दो पुष्पमालाएँ देखीं, जिन पर भौरें गुजार करते थे। फिर दो सुवर्ण कलशों को देखा, उनके मुख कमलों से ढके हुए थे। नौवें स्वप्न में तालाब में क्रीड़ा करती हुई मछलियाँ देखीं। दसवें स्वप्न में एक सुन्दर

तालाब देखा। फिर लहरे मारते हुए समुद्र को देखा। फिर सोने का एक सिंहासन देखा। फिर एक स्वर्गीय विमान देखा। फिर पृथ्वी को भेदकर ऊपर आया हुआ स्वर्ग का विमान देखा। और सोलहवें स्वप्न में समान पीली कान्ति वाले एक ऊँचे बैल को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा।

इन स्वप्नों को देखने के पश्चात् मांगलिक शब्द सुनकर मरुदेवी जाग गई और शुभ स्वप्नों को स्मरण करके पुलकित हो उठी। उस समय उनके आनन्द का पार नहीं था। उन्होने तुरन्त ही स्नान किया और वस्त्राभूषण पहिनकर अपने पति के पास पहुँची और बोली–देव ! आज मैं सुख से सो रही थी। सोते हुए रात्रि के पिछले पहर में मैने ये सोलह स्वप्न देखें हैं आप इन स्वप्नों के फल मुझे बतलायें।

महाराज नाभि कहने लगे– देवि सुनो, तुम्हें सोलह स्वप्नों का फल क्रम से बतलाया हूँ–तुम्हारे एक उत्तम पुत्र होगा, वह समस्त लोक में श्रेष्ठ होगा, अनन्तबल से युक्त होगा, धमतीर्थ का प्रवर्तक होगा, सुमेरुपर्वत के ऊपर ले जाकर देवता उसका अभिषेक करेंगे, समस्त लोगों को वह आनन्द देने वाला होगा, बड़ा प्रतापी होगा, अनेक निधियों का स्वामी होगा, बड़ा सुखी रहेगा, अनेक लक्षणों से शोभित होगा, केवल ज्ञानी होगा, जगत् का गुरु होकर साम्राज्य प्राप्त करेगा, स्वर्ग से अवतरित होगा, जन्म से अवधिज्ञानी होगा, और अन्त में अग्नि की तरह कर्मरूपी ईधन को जलाकर मुक्त होगा।

नाभिराज के वचन सुनकर रानी मरुदेवी का शरीर हर्ष से गदगद हो गया। उसने प्रसन्नतापूर्वक पति को नमस्कार किया और अन्तः पुर में लौट आई। उस समय अवसर्पिणी के तीसरे सुषमादुषमा नामक काल में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ माह का समय शेष था। आसाढ़ शुक्ला द्वितीया का दिन था, उत्तराषाढ़ हुआ था। तब अहमिन्द्र वज्रनाभि सर्वार्थसिद्धि विमान से व्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतरित हुए। उस अवसर पर प्रकट होंने वाले चिन्हों से भगवान् के गर्भावतरण का समय जानकर सब इन्द्र नाभिराज के राजमहल में पधारे। राजमहल का आंगन देवों से खचाखच भर गया। सबसे प्रथम सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अपने देवों के साथ संगीत आरम्भ किया। फिर तो गीत, नृत्य और वादित्रों की ध्वनि सारी नगरी मुखरित हो उठी।

आदि कुमार का जन्म और बचपन

इन्द्र के आदेश से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियों ने गर्भवती मरुदेवी की सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया। सेवा करती हुई वे देवियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों मरुदेवों के श्री (शोभा), ह्री (लज्जा), धृति (धैर्य)' कीर्ति (यश)' बुद्धि और लक्ष्मी नामक गुणों ने ही देवियों का रूप धारण करके सेवा का व्रत अंगीकार किया है।

उन देवियों में कोई तो गर्भवती मरुदेवी को स्नान कराती थी, कोई वस्त्राभूषण पहनाती थी, कोई सुगन्धित पुष्पमालाएँ गूँथकर पहनाती थी, कोई भोजन कराती थी, कोई पान खिलाती थी, कोई सय्या बिछाती थी और कोई पैर दबाती थी। वे देवियाँ कभी जल क्रीड़ा से, कभी वनक्रीड़ा से, कभी कथावार्ता से, कभी संगीत गोष्ठी से और कभी नृत्यगोष्ठी से माता का मनोरंजन करती थी। इस तरह वे देवियाँ बड़े ही प्रेम से माता की सेवा करती थी। उनके आमोद-प्रमोद से नौ मास नौ क्षण की तरह बीत गए। किन्तु महाराज नाभि बड़ी उत्सुकता के साथ पुत्रजन्म की प्रतिज्ञा कर रहे थे, फिर भी उन्होंने नौ मास का समय धीरतापूर्वक बिताया।

कहावत है कि सन्तोष का फल मीठा होता है। महाराज नाभि के भी सन्तोष रूप वृक्ष में अत्यन्त मिष्ट फल फला। जैसे प्रातः काल के समय पूर्व दिशा कमलों को विकसित करने वाले तेजस्वी सूर्य को जन्म देती है वैसे ही चैत्र कृष्णा नवमी को सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में मरुदेवी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही आकाश निर्मल हो गया, दिशाएँ स्वच्छ हो गई, प्रजा के हर्ष का पारावार नहीं रहा, देवलोक में भी आश्चर्यजनक घटनाएँ होने लगीं, शीतल मन्द सुगन्धित वायु बहने लगी, पृथ्वी कम्पित हो उठी, समुद्र लहराने लगा और इन्द्रासन कांप उठा।

अपने आसन को कम्पित देखकर क्षणभर के लिए इन्द्र भी भय से विचलित हो उठा। किन्तु तत्काल ही उसे अपने अवधिज्ञान से मालूम हो गया कि भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म हुआहै। फिर तो वह आनन्द

री फूल उठा और उसने सिंहासन से उतरकर बाल जिनेन्द्र को परोक्ष नमस्कार किया तथा उनका जन्माभिषेक करने का संकल्प लिया।

इन्द्र की आज्ञा पाते ही देवगण स्वर्ग से चल दिये। सबसे आगे सौधर्म इन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ ऐरावत हाथी पर सवार होकर निकला। पश्चात् सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष और लोकपाल जाति के देव इन्द्र को चारों ओर से घेरकर चले। उनके पीछे जय जयकार करती हुई देव सेना चली। शीघ्र ही सब अयोध्या नगरी में जा पहुँचे। देवगण तो अयोध्या के चारों ओर फैल गये और इन्द्र महाराज नाभि के आंगन में उतरा। पश्चात् इन्द्राणी ने प्रसूति गृह में प्रवेश करके बालक जिन को उठा लिया तथा उसके स्थान पर एक मायामयी बालक रख दिया। बालक के शरीर का स्पर्श पाकर इन्द्राणी ऐसी सुखी हुई मानों तींनों लोकों की निधि उसे प्राप्त हुई है। वह बार-बार बालक के मुख को निहारती थी, बार-बार उसका आलिंगन करती थी और बार-बार उसके सिर को सूंघती थी। जब इन्द्राणी बालक को गोद में लेकर चली तो वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानों बाल सूर्य को गोद में लिए हुए पूर्व दिया ही है।

बाहर आकर इन्द्राणी ने बालक जिनको इन्द्र के हाथों में दे दिया। इन्द्राणी के हाथों से आदर सहित बालक को लेकर इन्द्र हर्ष से उन्मत्त हो गया और उसका सुन्दर रूप निहारने लगा। निहारते निहारते वह ऐसा मग्न हुआ कि उसे कुछ सुध बुध नहीं रही। तब इन्द्राणी ने उसे सावधान किया और उसने हाथ उठाकर चलने का संकेत किया।

इन्द्र का संकेत पाते ही देवगण जय जयकार करते हुए ऊपर की ओर चल पडे। और सौधर्म इन्द्र बालक को अपनी गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर बैठ गया, ईशान स्वर्ग के इन्द्र ने बालक पर छत्र तान लिया और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र बालक के दोनों ओर चमर ढोरने लगे।

क्रम से ज्योतिष पटल को लांघकर वे सुमेरुपवर्त पर जा पहुँचे। उसने बड़े प्रेम से गिरिराज की प्रदक्षिणा दी और फिर पाण्डुक शिला के ऊपर बाल जिनको विजरामान कर दिया। बाल जिनके जन्माभिषेक को देखने के लिये सभी देव उत्कण्ठित थे अतः वे पाण्डुक शिला को घेरकर बैठ गये, जिन्हें वहाँ स्थान नहीं मिल सका वे मेरुपर्वत के उपर आकाश में जा विराजे।

जैसे ही अभिषेक की तैयारियाँ आरम्भ हुई, देव दुन्दुभि बजाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगी। बहुत से देव सुवर्णमय कलश लेकर क्षीर समुद्र का जल लाने के लिए चले। क्षीर समुद्र से लेकर पाण्डुक शिला तक देवों की पंक्ति लग गई और क्षणभर में ही देवों के एक हाथ से दूसरे हाथमें जाने वाले जल से भरे हुए कलशों से आकाश व्याप्त हो गया। जैसे ही सौधर्मेन्द्र ने जय जयकार करते हुए भगवान के मस्तक पर जल की धारा डाली, एक साथ करोड़ों कण्ठों से निकली हुई जयध्वनि से आकाश मण्डल गूंज उठा। इसके पश्चात् सभी स्वर्गों के इन्द्रों ने भगवान के मस्तक पर एक साथ जल की धारा छोड़ी। उस समय भगवान के शरीर से उचटकर चारों ओर छिटकती हुई जल की बूंदे ऐसी प्रतीत होती थी, मानों वे अपने इस सौभाग्य पर हर्षित होकर ही नृत्य कर रही हैं।

जब शुद्ध जल का अभिषेक समाप्त हुआ तो इन्द्र ने सुगन्धित जल से भगवान का अभिषेक किया। अभिषेक की समाप्ति होने पर इन्द्र ने जगत की शान्ति के लिये उच्च स्वर से प्रार्थना की। फिर देवों ने उस गन्धोदक को पहले अपने मस्तक पर लगाया फिर सारे शरीर में लगाया। उसके पश्चात् भगवान की पूजा की।

इन्द्राणी ने बालक जिनके शरीर को वस्त्र से पोंछकर सुगन्धित द्रव्य का लेप किया, फिर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर इन्द्र की गोद में दे दिया। उस समय बालक का सौन्द्रर्य देखकर इन्द्र विमुग्ध हो गया और भक्तिभाव से स्तुति करने लगा। और जिस उत्सव के साथ अयोध्या से मेरू तक आये थे उसी उत्सव के साथ मेरु से अयोध्या आ पहुँचे।

अयोध्या पहुँचते ही इन्द्र ने भगवान को गोद में लेकर महाराज नाभि के घर में प्रवेश किया। उस समय नाभिराज और मेरुदेवी अपने प्रियदर्शी पुत्र को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और इन्द्र इन्द्राणी को आश्चर्यभरी दृष्टि देखने लगे। उनके अभिप्राय को समझकर इन्द्र ने जन्माभिषेक की सब कथा कही और दोनों का खूब सन्मान करके बालक को उनके हाथों में सौंप दिया।

इन्द्र से अपने पुत्र के जन्माभिषेक की कथा सुनकर माता-पिता साश्चर्य आनन्द में डूब गये और उन्हें क्षणभर के लिए कुछ भानसा नहीं रहा। इतने में ही पुरवासी जनों के प्रचण्ड कोलाहल ने उन्हें आनंन्दित

किया। आनन्द से मत्त समस्त पुरवासी गीत गाते, नृत्य करते और बाजे बजाते हुए चले आते थे। पुरवासियों को हर्षोन्मत्त देखकर इन्द्र का अंग अंग हर्ष से फड़क उठा। उसने तुरन्त ही नृत्य करना आरम्भ किया। इन्द्र को नृत्य करते देख गन्धर्वों ने समधुर संगीत आरम्भ किया। फिर तो समा बँध गया और अनेक देव-देवांगनाएँ इन्द्र के साथ नृत्य करने लगीं। नृत्य करते हुए इन्द्र ने अपनी दोनों भुजायें फैला रखी थी और उन भुजाओं पर देवांगनाएँ नृत्य कर रही थी। कुछ देवांगना इन्द्र की अंगुलियों पर खड़ी होकर सूची नृत्य का अभिनय करती थी तो कुछ उसकी अंगुलियों के अग्र भाग पर अपनी नाभि को रखकर फिरकी की तरह घूम रही थीं।

महाराज नाभि तथा मरुदेवी उस आश्चर्यजनक नृत्य को देखकर बहुत ही चकित हुए। उसी समय बालक का नाम 'ऋषभ' रखा गया; क्योंकि प्रथम ते वह जगत् भर में श्रेष्ठ था, दूसरे वह श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान था, तीसरे माता ने उसके गर्भावतरण के समय स्वप्न में ऋषभ (बैल) को देखा था। इन कारणों से बालक का नाम ऋषभदेव रखा गया। इस तरह जन्म महोत्सव मनाकर इन्द्र देवों के साथ अपने स्थान को चला गया।

भगवान ऋषभदेव महाराज नाभि के घर में बाल चन्द्रमा के समान धीरे-धीरे बढ़ने लगे और देव कुमारों के साथ क्रीड़ा करने लगे। ज्यों-ज्यों उनके शरीर में वृद्धि होती गई त्यों-त्यों उनकी समस्त कलाएँ भी बढती गई। उन्होंने शिक्षा के बिना ही समस्त कलाओं, विद्याओं और क्रियाओं में स्वयं ही निपुणता प्राप्त कर ली। उस समय एक मात्र वे ही सरस्वती के स्वामी थे। इसलिये वे समस्त लोक के गुरु माने जाते थे।

धीरे-धीरे पूर्ण यौवन को प्राप्त होने पर उनका शरीर बहुत ही मनोहर हो गया। उनके रूप लावण्य को देखकर मनुष्य आनन्द विभोर हो जाते थे। एक दिन महाराज नाभि उनकी पूर्ण युवावस्था देखकर एक नये विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे- कुमार अत्यन्त सुन्दर है, किन्तु इनका विषयराग अत्यन्त मन्द है। अब इनकी अवस्था विवाह के योग्य है। अतः कोई ऐसी सुन्दरी खोजनी चाहिए जो इनके चित्त को हर सके। दूसरी बात यह भी है कि यह तीर्थङ्कर हैं अतः यह अवश्य ही सब परिग्रह छोड़कर एक दिन तपस्वी बनेंगे। फिर भी जब तक वह समय नहीं आता तब तक

लोक व्यवहार की प्रवृत्ति के लिए उनका विवाह अवश्य कर देना चाहिए ।

ऐसा विचार कर नाभिराजा भगवान के पास गये और उनसे कहने लगे–तात ! जैसे सूर्य के उदय में उदयाचल निमित्त मात्र वैसे ही तुम्हारी उत्पत्ति में हम भी निमित्त मात्र हैं । अतः यद्यपि यथार्थ में मैं तुम्हारा जनक नहीं हूँ फिर भी लोकाव्यवहार के अनुसार मैं तुम्हारा पिता हूँ और इसलिए कर्तव्यवश कुछ कहना चाहता हूँ । तुम अब लोक की सृष्टि में अपना मन लगाओं । चूंकि तुम आदिपुरुष हो इसलिए तुम्हें देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे । अतः हे श्रेष्ठ! किसी मनचाही कन्या के साथ विवाह करो । ऐसा करने से प्रजा की सन्ततिका उच्छेद नहीं होगा और सन्तति का उच्छेद नहीं होने पर धर्म की परम्परा चलती रहेगी। स्त्री का पाणिग्रहण करना गृहस्थ का धर्म है; क्योंकि गृहस्थों को सन्तान रक्षा का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए । यदि तुम मुझे गुरु मानते हो तो तुम्हें मेरे वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये क्योंकि गुरु की बात को उल्लंघन करना उचित नहीं है ।

इस तरह कहकर महाराज नाभि चुप हो गये और भगवान ने मुस्कराते हुए मूक स्वीकारता दी । पुत्र की अनुमति जानकर नाभिराज बड़े प्रसन्न हुये और महोत्सव की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं । उन्होंने इन्द्र की सम्मति से सुशील और सुन्दर लक्षणों वाली दो कन्याओं को पसन्द किया । वे दोनों कन्याएँ कच्छ और महाकच्छ की बहने थी। एक का नाम यशस्वती था और एक का नाम सुनन्दा था । दोनों कन्याओं के साथ नाभिराज ने ऋषभ देव का विवाह कर दिया । दोनों पुत्रवधुओं के साथ आपने पुत्र के देखकर महाराज नाभि और महादेवी बहुत ही प्रसन्न हुए सो ठीक ही है, क्योंकि लोगों को लौकिक धर्म ही प्रिय होता है और स्त्रियों को तो पुत्र के विवाहोत्सव में ही अधिक आनन्द आता है । जनता भी उस विवाह से बड़ी प्रसन्न हुई । मनुष्य समाज स्वयं ही भोगों के लिए आकुल रहता है अतः अपने अगुआ को भोगी बनते देखकर, उसका आनन्दित होना स्वाभाविक है । अपनी दोनों पत्नियों के साथ विहार करते हुए ऋषभदेव का सुदीर्घ काल क्षण के समान बीत गया ।

आदि कुमार का पारिवारिक जीवन

एक दिन महादेवी यशस्वती अपने महल में सोती थी, उसने स्वप्न में ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरू पर्वत, चन्द्रमा सहित सूर्य, हंस सहित सरोवर तथा लहराते हुए समुद्र को देखा। स्वप्न देखने के बाद बन्दीजनों का मंगल गान सुनकर यशस्वती जाग पड़ी और स्नान आदि करके स्वप्नों का फल पूछने के लिए भगवान ऋषभदेव के समीप पहुँची तथा अपने योग्य आसन पर बैठकर भगवान् से अपने स्वप्नों को निवेदन किया।

स्वप्नों को सुनकर भगवान कहने लगे देवी ! तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा और वह बड़ा प्रतापी तथा कान्तिमान होगा। वह समस्त पृथ्वी का पालन करेगा और संसार रूपी समुद्र को पार करेगा। पति के वचन सुनकर यशस्वती बहुत प्रसन्न हुई। राजा अतिगृद्धय जीव, जो पहले व्याघ्र था और फिर उन्नति करते-करते सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वहाँ से च्युत होकर यशस्वती के गर्भ में आया। अब यशस्वती जब कभी तलवार रूपी दर्पण में अपना मुख देखने लगती थी। उसके गर्भ के सब चिन्हों को देखकर ऋषभदेव अत्यन्त प्रसन्न होते थे।

धीरे-धीरे नौ मास बीतने पर यशस्वती ने महापुण्यशाली तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। भगवान ऋषभदेव का जन्म जिस पुण्यबेला में हुआ था उसी पुण्यबेला में उनके पुत्र का भी जन्म हुआ। अर्थात् चैत्र कृष्णा नवमी का दिन था, मीन लग्न थी, ब्रह्मयोग था, धन राशि का चन्द्रमा था और उत्तराषाढ़ नक्षत्र था। पौत्र का जन्म जानकर मरुदेवी और नाभिराजा बहुत ही प्रसन्न हुए। तुरही, दुन्दुभि, झांझ, शंख आदि के शब्दों से राजमन्दिर प्रतिध्वनित होकर गूंजने लगा। सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल गान करने लगी। नर्तकियों ने नृत्य आरम्भ किया। समस्त नगर आनन्द के समुद्र में तैरने लगा। बालक का नाम 'भरत' रखा गया।

बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जैसे-जैसे वह बढ़ता था वैसे ही वैसे उसके स्वाभाविक गुण भी उत्तरोत्तर बढ़ते जाते थे। भरत के

पश्चात् यशस्वती देवी के निन्यानवे पुत्र और हुए तथा ब्राह्मी नाम की एक कन्या भी हुई। वे सभी पुत्र चरमशरीरी और बड़े प्रतापी थे।

ऋषभदेव की द्वितीया पत्नी सुनन्दा के भी बाहुबलि नामक पुत्र और सुन्दरी नाम की पुत्री हुई। पुत्र और पुत्री को पाकर सुनन्दा बहुत ही प्रसन्न हुई। बाहुबलि चौबीस कामदेवों में से प्रथम कामदेव थे। अतः उनके जैसा रूप अन्यत्र दिखाई नहीं देता था। जैसे हाथी कम से कम मदावस्था प्राप्त होता है वैसे ही ऋषभदेव के भरत आदि एक सौ एक पुत्र भी क्रम से क्रम युवावस्था को प्राप्त हुए। उस समय उनका मनोहर रूप देखने ही योग्य था। वे सब ऐसे प्रतीत होते थे मानो ज्योतिषी देवों का समूह है। उनमें तेजस्वी भरत सूर्य थे, अत्यन्त सुन्दर बाहुबलि चन्द्रमा थे और शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र और तारागण थे। अपने सब पुत्र पुत्रियों से घिरे हुए भगवान ऋषभदेव ऐसे मालूम होते थे मानो ज्योतिषी देवों से घिरा हुआ सुमेरु पर्वत ही है।

एक दिन ऋषभदेव सुख से बैठे हुए थे। उसी समय उनकी दोनों पुत्रियों ने उनके निकट पहुँचकर उन्हें नमस्कार किया। भगवान ने दोनों को उठाकर प्रेम से अपनी गोद में बैठा लिया। फिर उन पर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूँघा और उनके साथ क्रीड़ा लगने लगे। क्रीड़ाकर चुकने पर बोले–तुम दोनों का यह शरीर यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित हो तो तुम्हारा यह जन्म सफल हो सकता है। इस लोक में विद्यावान् पुरुष पण्डितों के द्वारा सन्मानित होता है और विद्यावती नारी स्त्री समाज में प्रमुख पद प्राप्त करती है। विद्या ही मनुष्यों को यशस्वी बनाती है, विद्या ही पुरुषों का कल्याण करती है। अच्छी तरह से आराधित विद्या देवता सब मनोरथों को पूर्ण करती है। विद्या मनुष्यों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणीरत्न है। विद्या ही धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थ की दात्री है। विद्या ही बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ जाने वाला धन है। अधिक क्या, विद्या ही कल्याण करने वाली है,विद्या से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। अतः पुत्रियों ! तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो। तुम्हारे विद्याध्यन करने का यही समय है।

ऐसा कह कर भगवान ऋषभदेव ने अपनी दोनों किशोर कन्याओं

को बारबार आशीर्वाद दिया और फिर पाटीदार एक हाथ से वर्णमाला लिखकर लिपि की शिक्षा दी और दूसरे हाथ से अंक विद्या की शिक्षा दी। ब्राह्मी पुत्री भगवान की गोद में दाहिनी और बैठी थी अतः उसे दाहिने हाथ से अंक विद्या की शिक्षा दी। ब्राह्मी पुत्री भगवान की गोद में दाहिनी और बैठी थी अतः उसे दाहिने हाथ से वर्णमाला का बोध कराया और सुन्दरी पुत्री बाई और बैठी अतः उसे बायें हाथ से इकाई दहाई आदि अंक विद्या का अभ्यास कराया। इस प्रकार दोनों पुत्रियाँ पिता के अनुग्रह से समस्त विद्यायें पढ़कर सरस्वती के तुल्य हो गई।

ऋषभदेव ने पुत्रियों की तरह अपने पुत्रों को भी शिक्षित किया और लोक का उपकार करने वाले जितने शास्त्र थे वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये। सबसे बड़े पुत्र भरत को नृत्य शास्त्र पढ़ाया, पुत्र वृशभसेन को गन्धर्व शास्त्र पढ़ाया, पुत्र अनन्त विजय को चित्रकला की शिक्षा दी, एक पुत्र को स्थापत्य कला (मकान बनाने की विद्या) की शिक्षा दी। बाहुबिल को कामशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्न परीक्षा, अश्व परीक्षा, हस्ति परीक्षा आदि अनेक शास्त्रें में निपुण किया। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपनी सन्तान को सुशिक्षित बनाकर, पुरुषों के सामने यह आदर्श उपस्थित किया कि माता-पिता का कर्तव्य केवल सन्तान को जन्म दे देना ही नहीं है, किन्तु उसे सुशिक्षित बनाना भी है। तथा पुत्रों से भी प्रथम पुत्रियों को सुनिश्चत बनाना आवश्यक है।

सार्वजनिक जीवन व्यवस्था

भगवान ऋषभदेव जद्‌गुरु थे अतः उन पर केवल कौटुम्बिक उत्तर-दायित्व ही नहीं था बल्कि सार्वजनिक उत्तरदायित्व भी था। सारी प्रजा उन्हें अपनी ओर सन्तन की तरह ही प्रिय थी। अतः वे केवल अपनी और सन्तान की ही शिक्षा में संलग्न कैसे रह सकते थे ?

उस समय तक और औषधियों से जनता अपना रोग निवारण करती थी वे औषधियाँ शक्तिहीन हो गई थीं। बिना बोये उत्पन्न होने वाले जिस धान्य से मनुष्य अपना निर्वाह अब तक करते आये थे वह भी बहुत कम उत्पन्न होने लगा। अतः पौष्टिक आहार की कमी से प्रजा में रोगो का संक्रमण होने लगा। लोग बहुत व्याकुल हुए और जीवित रहने की लालसा लेकर वे महाराज नाभिके पास गये। एक तो नाभिराज वृद्ध हो चुके थे, दूसरे उन्हें अपने पुत्र की बुद्धि और शक्ति पर अधिक आस्था थी, तीसरे वह उन पर सब भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाना चाहते थे। अतः उन्होंने लोगों को ऋषभदेव के पास भेज दिया।

लोगों ने जाकर ऋषभदेव को नमस्कार किया और विनयपूर्वक बोले- देव! हमलोग भूख प्यास के कष्ट से बेचैन हैं। अब अन्न जल के बिना जीवित रहना कठिन है। इसके सिवा हम निराश्रय हैं अतः सर्दी, गर्मी, आँधी और मोह का कष्ट भी हमसे नहीं सहा जाता। आप इन सबसे बचने का कोई उपाय बतलायें। आपके रहते हुए भी यदि हमारे दुःख दूर न हों तो आश्चर्य ही है। अतः आप ऐसा उपाय बताइये जिससे हम अपना जीवन निर्वाह निर्विघ्न कर सकें।

जनता के दीनतापूर्व वचनों को सुनकर वृषभदेव के चित्त दया से द्रवित हो गया और वे मन ही मन पश्चाताप करते हुए विचारमग्न हो गये। वे सोचने लगे- कल्प वृक्षों के नष्ट हो जाने से अब यह क्षेत्र कर्मभूमि होता जाता है। अतः बिना कर्म किये लोगों का जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। तथा अब तक इन लोगों में समूह बनाकर रहने की भी प्रवृत्ति नहीं हैं, सब अलग अलग फैले हुए हैं। अतः बिना सामूहिक जीवन के भी अब निर्वाह होना कठिन है। प्रथम तो इन्हें ग्राम नगर

आदि बसाकर सम्मिलित रूप से रहने की आदत डालनी चाहिये । और आजीविका के आधार पर ही इनके समूह स्थापित कर देना चाहिये । तथा यह नियम कर देना चाहिये कि प्रत्येक समूह उसी कर्म से अपना जीवन निर्वाह करे जो उसके लिए नियम किया गया है और उसकी सन्तान भी अपना पैतृक व्यवसाय ही अपनाये । ऐसा करने से एक ओर लोगों में विश्रृङ्खलता नहीं फैलेगी, दूसरी ओर उसकी सन्तान के लिए भी जीविका का मार्ग सुनिश्चित हो जायेगा, तीसरे वंशानुक्रम से चले आये हुए व्यवसाय को नई पीढ़ी आसानी से सीखकर उसमें उत्तरोत्तर सुदक्षता प्राप्त कर सकेगी ।

यह सब सोचकर भगवान ऋषभदेव ने सबसे प्रथम लोगों को ग्राम नगर आदि बसाने का उपदेश दिया और कहा कि अब लोग बिना सामूहिक जीवन के अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकते । अब आपको अपना अपना एक गांव या नगर आदि बसाकर रहना चाहिये । और अपने-अपने गाँव के लोगों के लिये जो-जो आवश्यक कार्य तथा वस्तुएँ हैं उन्हें आपस में विभाजित करके नियतकर लेना चाहिये और उसे ही अपनी जीविका का साधन मानकर चलना चाहिये । ऐसा करने से आपका सामाजिक जीविका का साधन मानकर चलना चाहिये । ऐसा करने से आपका सामाजिक तथा कौटुम्बिक जीवन निर्विघ्न चल सकेगा । हमने आपकी आजीविका के लिए छह साधन निश्चित किये हैं-असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प । प्रत्येक समूह को अपनी तथा दूसरों की रक्षा के लिए कुछ ऐसे सैनिकों की आवश्यकता है जो समय पर उसकी रक्षाकर सकें । अतः जो शूरवीर अस्त्र-शस्त्र चलाने में दक्षता प्राप्त करके सदा समाज की रक्षा में तत्पर रहना स्वीकार करें वे ऐसी जीविका स्वीकार करें । उनके भरण पोषण का प्रबन्ध शेष लोगों को करना होगा ।

अब ऐसे लोगों की भी आवश्यकता होगी जो लिखने पढ़ने में चतुर हों, अतः जो लोग इसमें चतुर हों वे मषिजीवी हो सकते हैं । जीवन के लिए सबसे अधिक आवश्यक चीज अन्न है । अब आपको जमीन साफ करके उसमें अनाज बोना होगा तभी आपको भोजन प्राप्त हो सकेगा । अतः जो लोग इस कार्य में अभिरुचि रखते हैं वे कृषिजीवी हो जायें । दिन भर श्रम करने के पश्चात् थकान दूर करने के लिए कुछ मनोरंजन

के साधन होना भी आवश्यक हैं अतः जो गीत नृत्य आदि के द्वारा जनता का मनोरंजन करके जीवन निर्वाह करने में अभिरुचि रखते हों वे विद्याजीवी बन जावें। खेती आदि के लिए औजारों की आवश्यकता पड़ेगी, मकान आदि बनाने के लिए भी कुशल कारीगर चाहिए। अतः जो इस प्रकार के साधनों में अभिरुचि रखते हों वे शिल्पजीवी हो जायें। और जो कृषि शिल्प आदि से उत्पन्न वस्तुओं को लेना बेचना पसन्द करें, वे वणिक् वृत्ति अपना लें।

इस तरह लोगों को उपदेश देकर भगवान ने इन्द्र को आदेश दिया कि तुम इन लोगों की सहायता करो। इन्द्र की सहायता से सभी स्त्री पुरुष काम में जुट गये। उन्हें श्रम करने का अभ्यास नहीं था, फिर भी जीवन की बलवती इच्छा ने उन्हें उसके लिए विवश किया। इन्द्र की प्रेरणा और सहाय्य से ग्राम नगर आदि की व्यवस्था हो गई। बीच में एक नगर बसाया गया और उसके चारों और छोटे बड़े ग्राम बसाये गये। सौ घरों का छोटा ग्राम और पाँच सौ घरों का बड़ा ग्राम होता था। छोटे गाँव की सीमा एक कोस और बड़े गाँव की सीमा दो कोस रखी गई। गाँवों में बगीचे, तालाब और खेतों की बहुतायत थी, घास और जल का उत्तम प्रबन्ध था। जो गाँव नदियों के किनारे बसाये गये थे उनमें धान के खेत लहलहाते थे।

धीरे-धीरे जब लोग अपने-अपने धन्धों में लग गये तो भगवान ऋषभदेव ने उन्हें तीन वर्णों में विभाजित कर दिया। जो शस्त्र धारण करके अजीविका करते थे वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती व्यापार पशुपालन आदि के द्वारा आजीविका करते थे वे वैश्य कहलाये। और जो उनकी सेवा करते थे वे शुद्र कहलाये। सब लोग अपने-अपने कामों को मन लगाकर करते थे और अपने लिये निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी आजीविक नहीं करता था।

इस प्रकार जब कितना ही समय बीत गया और प्रजा सुख पूर्वक जीवन यापन करने लगी तो नाभिराज ने जनता की सम्मति पूर्वक भगवान ऋषभदेव का राज्याभिषेक करना तय किया। किन्तु जनता के लिए राज्याभिषेक एक नई वस्तु थी, वह उससे अनजान थी। तब नाभिराज ने बतलाया कि राजा मर्यादा का रक्षक होता है। उसे ऊँचे आसन पर बैठाकर जल से उसका अभिषेक करना चाहिये। यह सुनकर

बहुत से मनुष्य हाथ में पत्ते लेकर जल लाने के लिए दौड़े । इतने में ही भगवान का राज्यकाल जानकर इन्द्र उपस्थित हुआ और उसने भगवान को सिंहासन पर बैठाकर उनका अभिषेक किया ।

इतने में लोग भी कमल के पत्तों में पानी ले लेकर आ गये और सिंहासन पर विराजमान ऋषभदेव को बड़े आश्चर्य से देखने लगे । अब भगवान के मस्तक पर पानी डालना उचित न समझकर सब लोगों ने उस जल को भगवान के चरणों पर डाल दिया । भगवान् अयोध्या के सिंहासन पर बैठकर अपनी सन्तान की तरह ही प्रजा का भी पालन करने लगे ।

यह पहले बतलाया है कि भोगभूमि के मनुष्य किसी प्रकार का अपराध नहीं करते थे । अतः दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करने का आश्यकता नहीं थी । किन्तु कर्मभूमि में अपराधों की प्रवृत्ति होने लगी थी अतः दण्ड के भय से लोग कुमार्ग की ओर नहीं जायेंगे यह सोचकर भगवान को दण्ड की भी व्यवस्था करनी पड़ी । राज्य के शासन और व्यवस्था के लिए धन भी आवश्यक है । अतः जैसे दूध देने वाली गाय को बिना कष्ट पहुँचाये उससे दुध दुहा जाता है वैसे ही प्रजा को बिना कष्ट पहुँचाये उससे कर वसूल किया जाता है । ऐसा करने से प्रजा भी दुखी नहीं होती और राज्य व्यवस्था के लिए धन भी सरलता से मिल जाता है । ऐसा सोचकर ऋषभदेव ने प्रजा के योग-क्षेम के लिए कुछ पुरुषों को दण्डधर नियुक्त किया । और उनका उत्कार करके किसी को महामण्डलिक, किसी को माण्डलिक, किसी को अधिराज आदि बनाया।

अपने राज्यकालों में भगवान ने इक्षु (ईख) के उत्पादन तथा उसके रस का उपयोग और संचय करने की ओर विशेष ध्यान दिलाया था उससे वे इक्ष्वाकु कहे जाने लगे और इसी नाम से उनका वंश प्रसिद्ध हुआ । कोई उन्हें प्रजापति कहता था तो कोई आदि ब्रह्मा कहता था और कोई कोई उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहते थे, क्योंकि उनके गर्भ में आने पर सुवर्ण की वर्षा हुई थी । इस तरह प्रेमवश लोग उन्हें विभिन्न नामों से पुकारते थे । और भगवान अपनी इस नामावली को सुनकर कभी कभी मुस्कारा देते थे ।

प्रव्रज्याग्रहण (दीक्षा–तपकल्याणक)

इस तरह ऋषभदेव को समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन करते हुए बहुत वर्ष बीत गये और प्रजा की दशा बराबर उन्नत होती गई। एक दिन भगवान ऋषभदेव विशाल सभामंडल के बीच में सिंहासन पर विराजमान थे और नीलांजना नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी। उसका नृत्य इतना सुन्दर था कि ऋषभदेव का मन भी उधर आश्चर्य होकर उसे ताकते थे। ऐसा आत्मविभोर कर देने वाला नृत्य उन्होंने आज तक नहीं देखा था। सभा मण्डप में ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था मानों सब लोग किसी आकस्मिक दुर्घटना की आशंका से ही बदहोश हो गये हैं। नीलांजना निर्वाणोन्मुख दीप की तरह अपनी प्रभा सर्वत्र छिटका रही थी। इतने में ही उसके पैर डगमगाये और वह इस ढंग से पृथ्वी पर लेट गई मानों वह अपनी नृत्यकला का ही एक अभिनय कर रही हो।

नीलांजना के गिरते ही इन्द्र ने रसभंग के भय से तुरन्त एक वैसी ही दूसरी नर्तकी को खड़ा कर दिया और नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा। यह कार्य इतनी शीघ्रगति से किया गया कि सभा के लोगों को एक के अन्त और दूसरे के आगमन का पता ही नहीं चला। किन्तु ऋषभदेव भगवान से यह रहस्य छिपा नहीं रहा। वह तुरन्त समझ गये कि पहली नर्तकी का अन्त हो गया। जीवन के अन्त का यह प्रथम दृश्य देखते ही उनकी ज्ञान चेतना जाग उठी और वे सोचने लगे – देखों, यह नर्तकी हमारे देखते–देखते ही अदृश्य हो गई। इन्द्र ने जो यह कपट नाटक रचा है इसमें उसका अवश्य ही सत् उद्देश्य है। जैसे नीलांजना का शरीर विनाशी था वैसे ही ये सब भोगोप भोग भी अस्थायी हैं। अतः ये आभरण केवल भाररूप हैं, चन्दन का लेप मैल के तुल्य है, नृत्य पागल पुरुष की चेष्टा है और गीत संसार की करुण दशा का रुदन है।

ये विचार आते ही उन्हें सारा जगत क्षणिक और शून्य प्रतीत होने लगा। उसी समय भगवान को विरक्त हुआ जानकर ब्रह्मलोक से

लोकान्तिक देवों का आगमन हुआ। आते ही उन्होंने भगवान को पुष्पांजलि अर्पित की और फिर हाथ जोड़ कर बोले- देव ! स्वयं बुद्ध हैं, इसलिए हमारे द्वारा प्रबोध कराने के योग्य आप नहीं है। किन्तु नियोगवश हम यहाँ उपस्थित हुए हैं और कुछ कहने की धृष्ठता करते हैं। नाथ! चिरकाल के पश्चात् अब यह क्षेत्र धर्मरूपी अमृत की वर्षा करने योग्य हुआ है अतः आप अब धर्मामृत की वर्षा करके चिरकाल से प्यारे भव्यरूपी चातकों को मेघ की तरह सन्तुष्ट करें। बार-बार भोगने पर इन भोगों के स्वाद में कुछ नवीनता नहीं रहती। अतः इन भोगों को छोड़िये और तपोबल से कर्मरूपी शत्रुओं को जीतकर मोक्ष का मार्ग बतलाइए।

इतना निवेदन करके लोकान्तिक देव तो अपनी कान्ति से आकाश मार्ग को प्रकाशित करते हुए अपने स्थान को चले गये और ऋषभदेव ने तपश्चरण करने का दृढ संकल्प कर लिया। जैसे ही उनके इस संकल्प की खबर फैली सर्वत्र हलचल मच गई। तुमने कुछ सुना ? ऋषभदेव हमें छोड़कर चले जायेंगे। अब हम कैसे जियेंगे, कौन हमारी बात सुनेगा ? अपनी कठिनाइयाँ हम किससे जाकर कहेंगे ? चारों ओर दुःखी और चिन्तित मनुष्य एक दूसरे से पूछते थे और विकल होते थे। उधर इन्द्रलोक में भी चहल पहल मची हुई थी। इन्द्र ने आदेश दिया था कि भगवान ऋषभदेव अब राज छोड़कर तपस्या करने के लिए वन में जायेंगे अतः सब देवों को इस महोत्सव में सम्मिलित होना चाहिए।

इस तरह उधर इन्द्र ने भगवान के तप कल्याणक का आयोजन किया इधर भगवान ने अपने बड़े पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी तथा बाहुबलि को युवराज बनाने का आयोजन किया। जनता को जब पता चला कि भगवान् हमारा भार अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप रहे हैं तो उसकी विकलता कम हुई और वह भरत के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करने लगी।

एक ओर भगवान को वन में जाने के लिए देवशिल्पियों ने पालकी का निर्माण किया, दूसरी ओर मानव शिल्पियों ने राजकुमारों के अभिषेक के लिए मण्डप तैयार किया। एक ओर इन्द्राणी ने चौक पूरा दूसरी और यशस्वती और सुनन्दा ने सुन्दर चौक पूरे। एक ओर देवियाँ

मंगल कलश लिए खड़ी थी दूसरी और सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल कलश लिए खड़ी थी। एक ओर देवगण भगवान ऋषभदेव को घेरे हुए थे दूसरी ओर जन समुदाय राजकुमारों को घेरकर बैठा था। एक ओर देवगण पुष्पवर्षा करते थे दूसरी ओर जनता राजकुमारों के ऊपर पुष्पवर्षा करती थी। एक तरह एक ओर देवगण राजपद त्याग कर सन्यास मार्ग को अपनाने के लिए उत्सुक राजयोगी ऋषभदेव के तप कल्याणक का महोत्सव मना रहे थे तो दूसरी ओर जनसमूह उसी उच्छिष्ट राज्यपद का भार भरत को सौंपने का महोत्सव मना रहा था। राज मन्दिर में सर्वत्र हर्ष ही हर्ष छा रहा था।

अपना भार सब पुत्रों को सौंपकर भगवान भी निराकुल हो गये थे और सब कुटुम्बियों से विदा ले रहे थे। अन्त में महाराज नाभि से आज्ञा लेकर वे पालकी में जा बैठे। प्रथम ही उस पालकी को राजाओं ने उठाया, फिर विद्याधरों ने उठाया। उसके पश्चात् देवों का नम्बर आया। उस समय देवगण प्रस्थानसूचक भेरियाँ बजा रहे थे और भगवान के आगे जय जयकार करते आते थे।

जब भगवान् अयोध्या से बाहर निकले तो नगर निवासियों ने उन्हें घेर लिया और वे उनसे प्रार्थना करने लगे-देव! आप अपना कार्य पूरा करे शीघ्र ही हम लोगों के बीच में लौट आना। अनाथ पुरुषों की रक्षा करने में आपके समान दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है अतः आप हम लोगों की रक्षा करने में अपना मन पुनः लगाना। प्रभो! आपका समस्त जीवन परोपकार में ही बीता है। अब बिना कारण ही हम लोगों को छोड़कर आप किसका उपकार करने जाते हैं?

भगवान की पालकी के पीछे-पीछे मंत्रियों के साथ यशस्वती और सुनन्दा चली आती थी। लोगों की प्रार्थना सुनकर शोक से उनके नेत्रों में आँसू भर आये। किन्तु अमंगल के भय से उन्होंने आँसुओं को नीचे गिरने से रोक लिया। उस समय उनके शरीर पर कोई भी आभूषण नहीं था अतः शरीर की शोभा और भी अधिक म्लान हो गई थी, वे किसी तरह डगमगाते पैर रखती हुई भगवान के पीछे-पीछे जा रही थी। उनके साथ में जो पुरवासी स्त्रियाँ थी, उनकी भी ऐसी ही दया थी। किन्हीं के केशपास खुलकर हवा में लहराते थे, किन्हीं को अपने वस्त्रों तक की सुधि नहीं थी। किन्हीं की आँखों से

आँसू बह रहे थे। कितनी ही स्त्रियाँ तो शोक से विह्वल होकर मूर्छित हो गई, उन्हें लोगों ने उठाकर पालकी में रखा और मूर्छा दूर करके उन्हें सान्त्वना दी।

पालकी आगे बढ़ती जाती थी और यशस्वती तथा सुनन्दा के साथ स्त्री-पुरुषों का समूह उसके पीछे चलता जाता था। चलते-चलते जब दोनों रानियाँ शोक से विह्वल हो उठती थी तो अन्तः पुर की वृद्ध स्त्रियाँ उन्हें समझाती थीं- देवि ! यह भगवान का प्रस्थान मंगल है, अधिक शोक करना अच्छा नहीं। चुपचाप स्वामी के पीछे चलना चाहिये। कभी कहती थीं- देवि, जल्दी करो, जल्दी करो, शोक के वेग को रोको, देखों देवलोग भगवान को लिये जाते हैं। अभी तो हमारे पुण्योदय से भगवान हमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

जब पालकी नगर से बहुत दूर निकल गई और स्त्री समूह ने उसका पीछा नहीं छोड़ा तो कुछ वृद्ध पुरुषों ने स्त्रियों को आगे जाने से रोक दिया और कहा कि भगवान की ऐसी ही आज्ञा है। भगवान की आज्ञा को मस्तक पर धारण करके सब स्त्रियाँ वहीं रुक गई और लम्बी-लम्बी साँस लेती हुई अपने भाग्य की निन्दा करने लगी। किन्तु यशस्वती और सुनन्दा अन्तःपुर की प्रधान स्त्रियों के साथ स्वामी की इच्छानुसार पालकी के पीछे-पीछे चली जाती थीं। उनके पीछे महाराज नाभिराय, मरुदेवी, सम्राट भरत, उनके अन्य भाई, मंत्री, राजा गण तथा अन्य पुरवासी जा रहें थे।

उस समय कितने ही पुरवासी आपस में कहते जाते थे- ये देवलोग पालकी पर बैठकर भगवान को कहीं दूर ले जा रहे हैं, किन्तु क्यों ले जा रहे हैं यह नहीं जानते। पहले भी ये लोग जन्मोत्सव मनाने के लिए भगवान को ले गये थे और फिर वापिस ले आये थे। हो सकता है कि हम लोगों के भाग्य से फिर वैसा ही हो। अतः दुःखी होने की बात तो नहीं जान पड़ती।

भगवान पालकी सिद्धार्थक वन में जाकर रुक गई। यह वन अयोध्या से न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट था। धीरे-धीरे सब देव समूह और जन समूह भी वहाँ आ पहुँचा। उस वन में पहले से ही एक शिला स्थापित थी। उसके ऊपर मण्डप बनाया गया था। शिला के समीप ही मांगलिक द्रव्य रखे हुए थे। पालकी से उतरकर

भगवान् उस शिला पर बैठ गये। प्रथम तो उन्होंने उपस्थित समूह को अपने सान्त्वनापूर्ण वचनों से शान्त किया फिर गम्भीर वाणी से एक बार पुनः सबसे दीक्षा लेने की आज्ञा प्राप्त की।

उसके पश्चात् सबलोग वहाँ से हट गये और भगवान् ने एक पर्दे की ओट में बैठकर शरीर के सब वस्त्राभूषण उतारकर पृथ्वी पर रख दिये तथा सिद्धों की साक्षी पूर्वक समस्त परिग्रह का परित्याग कर दिया। फिर भगवान पूर्व दिशा की ओर मुख करके पद्मासन से विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करके पाँच मुष्ठियों में समस्त केशों का लोचकर डाला। इस तरह केशलोंच करके भगवान ने दिगम्बर होकर जिनदीक्षा धारण की।

उसी समय भगवान की देखा देखी चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा धारण कर ली। वे लोग भगवान के अभिप्राय से बिल्कुल अपरिचित थे। केवल स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर ही वे दीक्षित हुए थे। स्वामी के अनुसार चलना ही सेवाकों का काम है, यह सोच कर ही वे सब नग्न हो गये। उनमें से कुछ स्वामी के स्नेह से दीक्षित हुए थे तो कुछ ने भगवान के भय से दीक्षा ले ली थी।

दीक्षा के पश्चात् भगवान की स्तुति करके इन्द्र देवगण के साथ अपने-अपने स्थान को चले गये। उसके पश्चात् भरत ने सुन्दर सुस्वादु फलों से भगवान के चरणों की पूजा की और नमस्कार करके अपने परिवार के साथ अयोध्या लौट आये।

ऋषभ का मुनि तपश्चरण

भगवान ऋषभदेव शरीर से भी ममत्व छोड़कर मौन पूर्वक तपश्चरण में संलग्न हुए। उन्होंने छह महीने के उपावास की प्रतिज्ञा ली और कठोर शिला पर अपने चरण रखकर कायोत्सर्ग धारण करके खड़े हो गये। उनके दोनों पैरों के अग्र भाग में एक बलिश्त (12 अंगुल) का अन्तर था और एड़ियो में चार अंगुल का अन्तर था। समस्त मानसिक, वाचनिक और कायिक विकारों को रोककर वेधीर वीर आत्मध्यान में लीन थे। उनकी दोनों भुजायें नीचे की ओर लटक रहीं थी। आकृति अत्यन्त प्रसन्न थी, केशशून्य गोल सिरोमण्डल सूर्य मण्डल की तरह चमकता था, नेत्र अत्यन्त निरपन्द थे, दोनों आपस में मिले हुए थे।

इस प्रकार जब भगवान अत्यन्त निस्पृह होकर ध्यानस्थ थे तब राजाओं का धैर्य छूटने लगा। अभी उन्हें दीक्षा लिये अधिक समय भी नहीं था कि इतने में ही वे मुनिदेषी घबरा उठे और आपस में कहने लगे–भगवान में कितना धैर्य कितनी स्थिरता है और इनकी जघांओं में कितना बल हैं ? इनके सिवाय दूसरा कौन ऐसा साहस कर सकता है ? न मालूम भूख प्यास के कष्टों को सहते हुए निश्चल पर्वत की तरह यह कब तक खड़े रहेंगे? हम समझते थे कि भगवान् एक दो दिन अथवा ज्यादा से ज्यादा तीन चार दिन खड़े रहेगे। परन्तु ये तो महिनों तक खड़े रहकर हमें दुखी कर रहे हैं। यदि स्वयं खा पीकर और हम लोगों को भी खिला पिलाकर फिर खड़े हो जाते तो कोई बात नहीं थी। परन्तु ये तो बिना कुछ खाये पिये खड़े हैं। और हमारी निष्ठाको नष्ट किये देते हैं। यह भी पता नहीं चला कि इस प्रकार ये क्यों खड़े हुए हैं। राजाओं के जो छै गुण बतलाये हैं उनमें भी इस प्रकार खड़े रहना नहीं बतलाया। अब तो हमें ऐसा लगता है कि स्वामी नीति नहींद जानते, क्योंकि अनेक उपद्रवों से भरे हुए इस वन में बिना रक्षा के खडे रहना नीतिमत्त नहीं है। भगवान् तो जीवन से विरक्त होकर शरीर छोडना चाहते हैं। परन्तु हम तो इस प्राणाहारी तपसे ही विरक्त हो गए हैं। अतः जब तक भगवान का ध्यान समाप्त नहीं होता तब तक हमें वन के कन्दमूल फल वगैरह से अपना जीवननिर्वाह करना चाहिये।

कुछ बोले– जब भगवान राज्य करते थे तब हम उनके सो जाने पर सोते थे, भोजन कर चुकने पर भोजन करते थे। खड़े होने पर खड़े होते थे और गमन करने पर गमन करते थे अब तक इन्होंने तप धारण किया तो हमने तप भी धरण किया। इस प्रकार सेवक का जो कुछ कर्तव्य है वह सब कर चुके, किन्तु अब हमारे प्राण संकट में है। जब से भगवान् इस वन में आये हैं, हमने जल भी ग्रहण नहीं किया। बिना भोजन किये, जब तक सामर्थ्य रही, खड़े रहे। परन्तु अब सामर्थ्य नहीं है तो क्या करें ? मालूम होता है भगवान् हम पर निर्दयी हो गये। वे हमसे व्यर्थ ही तपस्या करा रहे हैं। इनके साथ स्पर्धा करके क्या हम मर जायें ? ये अब घर को नहीं लौटगें। ये तो स्वच्छन्दचारी हैं अतः इनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

यह सुनकर दूसरे बोले – भगवान् बड़े ही धीर वीर हैं, इन्होंने अपनी आत्मा को भी वश में कर लिया है। इन्होंने अवश्य ही किसी विशेष उद्देश्य से राज्यलक्ष्मी को छोड़ा है। वे उसे पुनः स्वीकार करेंगे। और जब यह आज अथवा कल अपना योग समाप्त करके पुनः अपनी राज्यलक्ष्मी को स्वीकार करेंगे तब हमसे जिन लोगों ने स्वामी के कार्य में अपना उत्साह भग्न किया है अथवा छल किया है उन्हें अपमानित करके अपने राज्य से निकाल देंगे अथवा उनकी सम्पत्ति छीन लेंगे। अथवा भगवान को छोड़कर जाने पर भरत महाराज हम पर कुपित होंगे। अतः जब तक भगवान् का योग पूर्ण हो तब तक हमें सब सहन करना चाहिए। भगवान का योग अवश्य ही आज या कल पूर्ण होगा। और तब भगवान् क्लेश सहन करने वाले लोगों पर कृपा करेंगे। ऐसा करने से हमें न तो भगवान की ओर से ही कोई कष्ट पहुँचेगा और न भरत से ही। बल्कि वे प्रसन्न होकर पूजा सत्कार और धनादि से हमें सन्तुष्ट ही करेंगे।

इस प्रकार आपस में वार्तालाप करके संकल्प विकल्प में पड़े हुए राजा लोग तपस्या से विरक्त हो गये और जीवन निर्वाह का उपाय सोचने लगे। उन्होंने वहां से खसकना शुरू किया कुछ प्यास से पीड़ित होकर तालाबों पर पहुँचे और कुछ भूख से पीड़ित होकर फलों की खोज में इधर उधर भटकने लगे। धीरे–धीरे वे सभी भ्रष्ट हो गये और वृक्षों की छाल लपेटकर तथा कन्द मूल फल खाकर जीवन निर्वाह करने लगे। किन्तु भरत के डर से वे अपने घर नहीं गये और झोंपड़े बनाकर वन में ही रहने लगे।

उधर भगवान आत्मध्यान में लीन थे। वे न हिलते डुलते थे और न अन्य ही किसी प्रकार की चेष्टा उनमें दिखाई देती थी। जब कई मास इसी तरह से बीत गये तो हरिणों के बच्चे उनके चरणों के समीप आकर खेलने लगे। धीरे-धीरे समस्त वन में उनके आत्मिक तेज का प्रकाश और प्रभाव छा गया। उनकी शान्त मूर्ति ने वन के हिंस्र जन्तुओं को भी आकृष्ट किया और सिंह, हिरण तथा हाथिओं के झुण्ड मिल जुलकर रहने लगे। वे आपस का नैसर्गिक विरोध भी भूल बैठे। कभी-कभी तो हरिणी के बच्चे सिंहनी को अपनी माता समझकर उसके स्तनों में अपना मुँह डाल देते थे। इस तरह भगवान की शान्त छवि ने वश में न होने वाले सिंहों को भी अपने वश में कर लिया था।

इसी बीच में एक दिन महाराज कच्छ और महाकच्छ के पुत्र भगवान के पास आये और भगवान को नमस्कार करके उनके चरणों से लिपट गये और कहने लगे-स्वामी आपने अपना सब साम्राज्य पुत्र-पौत्रों को बाँट दिया। हमें कुछ भी नहीं दिया। हमें भी कुछ दीजिये। ये बार-बार भगवान से आग्रह करने लगे। तब धरणेन्द्र ने आकर उनसे कहा-तरुण कुमारो ! इस शान्त तपोवन में अशान्ति क्यों फैलाते हो ? भगवान् तो भोगों से निस्पृह है और तुम उनसे भोगों की याचना करते हो। जैसे पत्थर से कमलों की याचना करना व्यर्थ है वैसे ही भोगों की इच्छा से रहित भगवान से भोगों की चाहना करना भी व्यर्थ है। यदि तुम्हें राज्य चाहिये तो भरत के पास जाओ। इस समय वही साम्राज्य के स्वामी हैं। भगवान तो सब परिग्रह त्याग चुके वे तुम दोनों को भोग सामग्री कैसे दे सकते हैं ?

धरणेन्द्र की बात सुनकर नमि और विनमि नाम के दोनों पुत्रों को बहुत बुरा लगा। वे बोले-आप कौन हैं, हम नहीं जानते ? दूसरों के बीच में बोलना उचित नहीं है, अतः आप यहां से चुपचाप चले जायें। भगवान वन में चले आये, उससे क्या उनका प्रभुत्व जाता रहा ? भरत और भगवान में बड़ा अन्तर है। रत्नों का अभिलाषी मनुष्य समुद्र को छोड़कर तलैया के पास क्यों जायेगा ? क्या लोक में जलाशयों की कमी है चातक मेघ से ही जल की याचना करता है ?

राजकुमारों के उत्तर से धरणेन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें विजयार्ध पर्वत की दक्षिण और उत्तर श्रेणी का अधिपति बना दिया।

ऋषि मुनि को नवधाभक्ति पूर्वक आहारदान

जब भगवान ऋषभदेव को योग धारण किये हुए छह माह हो गये तो उन्होंने अपनी आँखें खोली। सही स्थिति जानकर वे विचारने लगे कि बड़े दुःख की बात है कि बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए ये नवदीक्षित श्रमण क्षुधा आदि की परीषहों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये। अतः मोक्षमार्ग को चलाने के लिए साधु के आहार ग्रहण करने की विधि बतलाना आवश्यक है। यह सोचकर भगवान ऋषभदेव योग समाप्त करके विहार करने लगे। उन्होंने अनेक नगरों और ग्रामों में विहार किया। वे जहाँ जाते थे वहीं के लोग बड़े आदर के साथ उन्हें प्रणाम करते थे और कहते थे - देव! प्रसन्न होइये और आज्ञा कीजिये।' भगवान कुछ भी उत्तर दिये बिना आगे बड़े जाते थे। तब कितने ही लोग उनके पीछे-पीछे जाने लगते थे।

कुछ लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान के सामने रखते थे और कहते थे- 'देव! प्रसन्न होइये और हमारी इस पूजा को स्वीकार कीजिये।' कुछ लोग वस्त्राभूषण लेकर आते थे। और कहते थे कि इन्हें धारण कीजिये। कुछ लोग रूप और यौवन से सम्पन्न कन्याओं को लाकर भेंट करते थे। कुछ लोग स्नान और भोजन की सामग्री लाकर प्रार्थना करते थे कि प्रभो इस आसन पर बैठकर स्नान और भोजन कीजिये किन्तु भगवान् चुपचाप आगे चले जाते थे।

कितने ही लोग पुत्र और स्त्रियों सहित आँखों में आँसू भर कर भगवान् के चरणों को पकड़ लेते थे, जिससे भगवान् क्षणभर के लिए रुक जाते थे। किन्तु उनके हटते ही पुनः आगे चल देते थे। इस प्रकार छह महीने और बीच गये। एक वर्ष पूरे होने पर भगवान विहार करतें करते हस्तिनापुर पहुँचे। इस समय नगर का अधिपति राजा सोमप्रभ था। उनके छोटे भाई का नाम श्रेयांस था। यह श्रेयांस पूर्व जन्म में धनदेव सेठ था और वहाँ से अहमिन्द्र होकर श्रेयांस हुआ था।

जिस दिन भगवान हस्तिनापुर पहुँच उसी रात्रि को श्रेयांस ने सात

स्वप्न देखे । प्रथम ही सुमेरु पर्वत देखा, फिर कल्पवृक्ष देखा, फिर सिंह देखा, चौथे स्वप्न में सीगों से किनारा उखाड़ते हुए बैल को देखा, पाँचवे स्वप्न में सूर्य चन्द्रमा देखे, छठे स्वप्न में रत्नाकर समुद्र देखा और सातवें स्वप्न में अष्ट मंगल लिये हुए व्यन्तर देवों को देखा ।

प्रातःकाल होने पर श्रेयांस ने अपने भाई से स्वप्नों का हाल कहा । सुकर राज पुरोहित बोले – 'देव ! आज कोई महापुरुष अपने घर आयेंगे । ये सब स्वप्न उन्हीं के गुणों के सूचक हैं । यह सुनकर दोनों भाई बहुत प्रसन्न हुए और भगवान ऋषभदेव की चर्चा करने लगे । इतने में ही भगवान ने नगर में प्रवेश किया । नगर में कोलाहल मच गया और नगर निवासी सब काम छोड़कर भगवान के दर्शनों के लिए दौड़ पड़े । उनमें से कितने ही भक्तिवश चले और कितने ही कौतुक वश । कितने ही लोगों को जाते हुए देखकर उनकी देखादेखी ही चल दिये । वे आपस में तरह-तरह की बातें करते जाते थे । कोई कहता था-भगवान् हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए ही वन से वापिस लौट आये हैं । कोई कहता था- बहुत दिनों से उनका नाम सुना करते थे। आज उन्हें प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिला है । एक बोला-बड़ा आश्चर्य तो यह है कि भगवान सब लोक के स्वामी होते हुए भी सब सुख छोड़कर इस तरह अकेले विहार करते हैं । इस प्रकार नगर निवासी आपस में तरह-तरह की बातें करते हुए चले जाते थे । इधर विहार करते हुए भगवान राजमन्दिर तक आ पहुँचे । द्वारपाल ने शीघ्र ही जाकर श्रेयांस के साथ बैठे हुए राजा सोम से भगवान के पधारने के समाचार कहे । सुनते ही दोनों भाई राजमहल के आंगन तक आये और दोनों ने की भक्ति पूर्वक भगवान के चरणों में नमस्कार किया । फिर जल से उनके चरण धोकर अर्ध चढ़ाया और तीन प्रदक्षिणा दीं । उस समय दोनों भाई हर्ष से गदगद हो रहे थे और भक्ति के भार से दोनों के मस्त नीचे की ओर झुके जाते थे ।

भगवान को देखते ही श्रेयांस को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया । जब भगवान् वज्रजंघ थे और श्रेयांस उनकी श्रीमति नाम की रानी थी तो उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहर दान दिया था । पूर्वजन्म का स्मरण होते ही श्रेयांस ने भगवान् को आहार दान देने का विचार किया । उस समय ईख का ताजा रस मौजूद था । भगवान् ने

आहार ग्रहण करने के लिए दोनों हाथों को मिलाकर अंजलि बनाई और श्रेयांस ने राजा सोम तथा रानी लक्ष्मी के साथ आदर पूर्वक भगवान के पाणिपात्र में ईख के रस की धारा अर्पित की। उसी समय आकाश से आकाश गूंजने लगा। दोनों भाईयों ने अपने आपको अत्यन्त कृतकृत्य माना। और वे इस कर्मभूमि के आरम्भ में दान-तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले कहलाये।

योगिराज ऋषभदेव शरीर की स्थिति के लिए इक्षु रस का आहार ग्रहण करके पुनः वन की ओर चल दिए। राजा सोम और श्रेयांस कुछ दूर तक भगवान् के पीछे-पीछे गये और फिर वापिस लौट आये। दोनों ही भाई मुख फिरा-फिरा कर निहीन भाव से वन को जाते हुए भगवान् को देखते जाते थे। जब तक भगवान् आँखों से ओझल नहीं हुए तब तक उनकी दृष्टि रह-रह कर उन्हीं का अनुगमन करती रही।

भगवान् का अदृश्य हो जाने पर लोग भगवान की ही कथा करते हुए अपने-अपने घरों को लौटे। सभी अपने को कृत्यकृत्य मान रहे थे और भगवान के चरणों से चिह्नित भूमि को नमस्कार करते जाते थे। राजा सोम और उनके छोटे भाई श्रेयांस की सर्वत्र प्रशंसा हो रही थी। धीरे-धीरे यह समाचार अयोध्या में भरत के कानों तक भी पहुँचा। सुनकर भरत आश्चर्य करते हुए सोचने लगे कि श्रेयांस ने मौनी भगवान के अभिप्राय को कैसे जान लिया ? वे तुरन्त ही श्रेयांस से मिलने के लिए हस्तिनापुर गये और आदर सहित श्रेयांस से बोले-राजकुमार ! तुमने भगवान के मन की बात कैसे जान ली? इस संसार के लिए दान की यह विधि नई ही है, इसे कौन जान सकता है? आज तुम हमारे लिए भगवान के समान ही पूज्य हो, क्योंकि तुमने भगवान को दान देकर दान की प्रवृत्ति की है। इसी से मैं यह सब पूछ रहा हूँ, जो सत्य हो, मुझसे कहो।

महाराज भरत के उत्सुकता भरे प्रश्न को सुनकर श्रेयांस बोले राजन् जैसे रोगी मनुष्य औषधि पाकर प्रसन्न होता है या प्यासा मनुष्य स्वच्छ जल से पूर्ण सरोवर को देख कर प्रसन्न होता है, मुझे भी भगवान को देखकर वैसी ही प्रसन्नता हुई थी और उसी से मुझे पूर्वजन्म का स्मरण हो गया जिससे मैने भगवान का अभिप्राय जान लिया। पूर्व भव में जब भगवान वज्रजंघ थे तब मैं उनकी श्रीमती नाम की प्रिय

स्त्री थी। उस समय हम दोनों ने चारण मुनियों को दान दिया था। उसके स्मरण से मैं मुनिदान की विधि को जानप सका और मैंने भगवान् को चर्या के लिए निकला जाने पर उन्हें आहार दान दिया। राजन् ! जो मोक्ष के साधक शरीर की स्थिति और ज्ञानादि गुणों की सिद्धि के लिए आहार की इच्छा करते हैं और थोड़े से ग्रास लेकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, ऐसे सुपात्रों को हम सबको उत्तम दान देना चाहिए।

श्रेयांस के वचन सुनकर महराज भरत अत्यन्त प्रसन्न हुए और दोनों भाईयों का आदर सत्कार करके अपने नगर को लौट गये।

उधर धीर वीर योगी ऋषभदेव वन में जाकर पुनः ध्यान में लीन हो गये और अतिशय उग्र तपश्चरण करने लगे। वे न तो कभी सोते थे और न एक स्थान पर बहुत दिनों तक ठहरते थे। कभी पर्वतों की गुहाओं में कभी पर्वतों के शिखरों पर और कभी अगम्य वनों में ध्यान लगाते थे। इस तरह रात के समय स्मशान भूमि में ही ध्यानस्थ हो जाते थे। इस तरह मौन पूर्वक सर्वत्र विचरण करते हुए भगवान् एक दिन पुरिमताल नामक नगर के पास जा पहुँचे। उस नगर के पास एक रमणीय उद्यान था। वह उद्यान अत्यन्त शान्त, निर्जन और निर्जन्तुक था। वहाँ एक वट वृक्ष के नीचे पड़ी शिलापर भगवान् ध्यानस्थ हो गये। उस समय उनकी ध्यानमुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था कि मोहरूपी शत्रु के विनाश का दिन आ गया है। ज्यों-ज्यों भगवान की अन्तरंग विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी त्यों त्यों मोह की सेना में खलबली मचती जाती थी। धीरे-धीरे भगवान अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर मोक्ष महल की सीढ़ी के समान क्षपक श्रेणी पर आरूण हुए। और समस्त मोहनीय कर्म का संहार करके उसके सहयोगी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को भी नष्ट कर डाला। चारों प्रबल शत्रुओं के नष्ट होते ही उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई और वे लोकालोक को जानने देखने वाले सर्वज्ञ हो गये। उस दिन फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की एकादशी थी।

सच्चे देव की विभूति

भगवान् को केवल ज्ञान की प्राप्ति होते ही विश्व में फिर एक बार भूचाल सा आ गया। मृत्युलोक, पाताल लोक और स्वर्गलोक में हलचल मच गई। इन्द्र का सिंहासन पुनः एक बार कांप उठा। एक क्षण के लिए तो वह इस चिन्ता में पड़ गया कि इस इन्द्रासन को कोई हथियाना चाहता है। किन्तु दूसरे क्षण में ही उसे अपनी भूल ज्ञात हो गई और उसने तुरन्त सिंहासन से उतर कर अन्तरिक्ष में भगवान को नमस्कार किया तथा अपने अनुचरों को आज्ञा दी कि भगवान की उपदेश सभा का आयोजन करो और ऐसा सभा मण्डप बनाओं जिसमें स्त्री, पुरुष, देव-देवांगना तथा पशु, पक्षी तक अलग-अलग शान्ति के साथ बैठ सकें। भगवान् सबके स्वामी हैं अतः सभी को उनकी शरण मिलनी ही चाहिए। जो आये, उसे निराश होकर जाना न पड़े।

आदेश का पालन बड़ी तत्परता से हुआ और कुशल शिल्पियों ने ऐसी उपदेश सभा बनाई कि स्वयं इन्द्र भी देखकर विस्मित हो गया। चूंकि उसमें किसी को जाने की रोक नहीं थी, सभी समान रूप से जा सकते थे, अतः उसका ना समवसरण था। वह समवसरण बड़ा विस्तृत और गोलाकार था। उसके बाहरी भाग में एक धूलिसाल के भीतर कुछ दूर जाकर वीथियों के बीच में चारों ओर चार मानस्तम्भ थे। उनके देखने से अहंकारी जीवों का अहंकार नष्ट हो जाता था। इसलिए उन्हें मानस्तम्भ कहते थे।

मानस्तम्भ के चारों ओर सरोवर, वाटिका आदि थीं। उसके पश्चात् एक के बाद एक इस तरह तीन कोट थे। तीसरे कोट में भीतर बड़ा भारी श्री मण्डप था। उस श्रीमण्डप के बीच में एक पीठिका थी। उस पीठिका पर एक पीठ था। उस पीठ पर भी एक पीठ था। उस पीठ पर भी एक पीठ था। उस पर गन्ध कुटी थी। गन्ध कुटी में सिंहासन से चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में पद्मासन से भगवान विराजमान थे। उनके चारों ओर प्रदक्षिणा रूप से बारह सभाएं लगी हुई थी। उनमें क्रम से गणधर आदि मुनिराज, कल्पवासी देवागनाएं,

आर्यिका सहित मनुष्यों की स्त्रियां, ज्योतिषी-देवांगनाएं, व्यन्तर देवांगनाएं, भवनदासी देवांगनाएं, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषीदेव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु बैठे थे।

राजर्षि भरत को एक ही साथ तीन शुभ समाचार मिले। धर्माधिकारी ने ऋषभदेव को केवल ज्ञान होने का समाचार दिया, आयुधशाला के रक्षक ने चक्ररत्न के प्रकट होने का समाचार दिया और कंचुरी ने पुत्रोत्पत्ति का समाचार दिया। तीनों समाचारों के एक साथ मिलने से भरत क्षणभर के लिए सोच में पड़ गये कि पहले किसका उत्सव मनाया जाये। वे विचारने लगे धर्म पुरुषार्थ अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरूषार्थ का फल मुझे एक साथ प्राप्त हुआ है। भगवान को केवल ज्ञान की उत्पत्ति धर्म का फल है, पुत्रोत्पत्ति काम का फल है और चक्ररत्न का प्रकट होना अर्थदायक होने से अर्थ का फल है। किन्तु वास्तव में यह सब धर्म पुरुषार्थ का ही फल है क्योंकि धर्म रूपी वृक्ष का फल अर्थ (धन) है और काम उसका रस है। अतः सबसे प्रथम धर्म कार्य ही करना चाहिये।

यह विचार कर महाराज भरत अपने छोटे भाई, स्त्रियाँ और नगर के प्रमुख लोगों के साथ भगवान की वन्दना के लिए चले और और समवसरण में जा पहुँचे। सबसे प्रथम उन्होंने समवसरण की प्रदक्षिणा दी। फिर मानस्तम्भों की पूजा करते हुए आगे बढ़े। श्री मण्डप में पहुँच कर भरत ने गन्ध कुटी के बीच में सिंहासन पर विराजमान भगवान् ऋषभदेव को देखा। भगवान् की प्रदक्षिणा देकर भरत ने भगवान की पूजा की और पूजा के बाद दोनों घुटने जमीन में टेककर भगवान को नमस्कार किया। फिर श्रीमण्डप में प्रवेश कर मनुष्यों के कोठे में जा बैठे तथा भगवान से उपदेशामृत का पान कराने की प्रार्थना करने लगे।

भगवान आदिनाथ का उपदेश

भगवान ऋषभदेव ने अत्यन्त गम्भीर वाणी में विस्तार के साथ सारभूत तत्वों का विवेचन किया। उस समय भगवान के मुख से दिव्य ध्वनि ऐसे निकल रही थी जैसे किसी पर्वत की गुफा से प्रतिध्वनि निकलती है। उसका प्रत्येक अक्षर स्पष्ट था और पशु पक्षी तक उसका अभिप्राय सरलता से समझते जाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों भगवान की लोक कल्याण की प्रबल भावना ने ही वाणी का रूप ले लिया है, क्योंकि वह ध्वनि भगवान के सर्वाङ्ग से फूटती प्रतीत होती थी।

भगवान कहने लगे– भव्य जीवों ! यह जगत अनादि अनन्त है, न इसकी आदि है और न अन्त है। सदा से चला आता है और सदा ऐसे ही चलता रहेगा। यह छह द्रव्यों से बना हुआ है। वे छह द्रव्य भी अनादि अनन्त हैं। उनका कोई बनाने और मिटाने वाला नहीं है। वे छह द्रव्य है– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें एक जीव द्रव्य ही चेतन है, बाकी के सब द्रव्य जड़ है। जिसमें चेतना– अर्थात् जानने देखने की शक्ति हो उसे जीव कहते हैं। और जिसमें चेतना–अर्थात् जानने देखने की शक्ति हो उसे जीव कहते हैं। और जिसमें यह शक्ति न हो उसे अजीव अथवा जड़ अथवा अचेतन कहते थे। अजीव द्रव्य पाँच है। जिसमें रूप रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है उसे पुद्गल कहते हैं। जिस वस्तु को हम छूकर, चाखकर, सूंघकर अथवा देखकर जान लेते है वह सब पुद्गल है। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं– अणु और स्कन्ध। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, दो, तीन आदि परमाणुओं के बन्ध से स्कन्ध। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, दो तीन आदि परमाणुओं के बन्ध से स्कन्ध बनते थे। एक परमाणु में एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श गुण होते हैं। शब्द, छाया, आतप, चान्दनी, मेघ वगैरह सब पौद्रलिक हैं– पुद्गलिक परमाणुओं के मेल से ही यह बनते हैं और उनके बिछुड़ने से नष्ट हो जाते हैं।

जो जीव और पुद्गलों के गमन में सहकारी कारण होता है उसे

धर्मद्रव्य कहते हैं और जो उनके ठहरने में सहकारी कारण होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। चलने और चलकर ठहरने की शक्ति तो जीव और पुद्गल में ही है, किन्तु ये दोनों द्रव्य केवल उसमें निमित्त मात्र होते हैं। जैसे जल मछली को चलते समय सहायक होता है वैसे ही धर्मद्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक होता है। तथा जैसे वृक्ष की छाया स्वयं ठहरने के इच्छुक मनुष्यों को ठहरने में सहायता देती है वैसे ही अधर्म द्रव्य भी चलतें हुए जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक होता है। बलपूर्वक न कोई चलाता है और न बलपूर्वक कोई ठहराता है।

जो सब पदार्थों को स्थान देता है वह आकाश है। आकाश व्यापक है। जो वस्तु मात्र के परिणमन में सहायक होता है वह कालद्रव्य है। जैसे कुम्हार के चाक को घूमने में उसके नीचे लगी कीज सहायक होती है वैसे ही हाल द्रव्य भी सब पदार्थों के परिणमन में सहायक होता है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य प्रति समय उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और ध्रुव भी रहता है। जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद है, जो पर्याय वर्तमान है उसका नष्ट होना व्यय है और उत्पाद व्यय के होते हुए भी वस्तु का जो धर्म दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है वह ध्रौव्य है। जैसे कुम्हार मिट्टी के पिण्ड से घड़ा बनने पर घट पर्याय का उत्पाद होता है और पिण्ड पर्याय नष्ट हो जाती है। किन्तु मिट्टी दोनों हालतों में वर्तमान रहती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु में प्रति समय परिवर्तन होता रहता है, एक पर्याय नष्ट होती है, दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है किन्तु फिर भी वस्तु कायम रहती है। अतः प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्यायरूप से अनित्य है। आकाश द्रव्य जैसी स्थायी वस्तु भी पर्यायरूप से अनित्य है और दीपक जैसी क्षणिक वस्तु भी द्रव्यरूप से नित्य है। न कोई वस्तु सर्वथा नित्य ही है और न कोई वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है।

जीव भी नित्य और अनित्य है। एक ही जीव मरकर मनुष्य से देव और देव से पशु हो जाता है। अतः मनुष्य, देव आदि पर्यायों की अपेक्षा जीव अमित्स है किन्तु इन पर्यायों के मिटने पर भी जीव द्रव्य का नाश नहीं होता अतः वह नित्य है।

इन छह द्रव्यों में एक जीव द्रव्य ही जानने देखने वाला है, अतः वही उपादेय है, उसी को जानने और समझने की आवश्यकता है। उसको जान लेने पर कुछ जानना शेष नहीं रहता और उसको बिना जाने सब जानना व्यर्थ है। जिसको हम धर्म कहते हैं वह इस जीव का ही धर्म है। अतः जो जीव अथवा आत्मा को जानता है वही धर्म को जानता है और जो आत्मा को नहीं जानता है वही धर्म को जानता है और जो आत्मा को नहीं जानता वह धर्म को भी नहीं जानता। जो मनुष्य आग को जानता है वही उसके उष्ण धर्म को भी जानता है और जो अग्नि को नहीं जानता किन्तु सुनसुनाकर कहता फिरता है कि उष्ण धर्म है उष्ण धर्म है, वह उष्ण धर्म से अपरचित ही है। अतः धर्म को जानने के लिए आत्मा को जानो। यह जीव अथवा आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं ही कर्मों के फल का भोगने वाला है। न यह आत्मा परमाणु के बराबर हो जाता है। उसकी दो अवस्थाएँ होती है–संसारी और मुक्त। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों से युक्त संसार में भटकने वाले जीव संसारी कहलाते हैं और समस्त कर्मों से मुक्त हुए जीव मुक्त कहलाते हैं। जीव की अशुद्ध दशा का नाम संसार है और शुद्ध दशा का नाम मोक्ष है।

जैसे, खदान से सोना मिट्टी वगैरह से मिला हुआ निकलता है। बाद में उसे उनके उपायों से शुद्ध किया जाता है। शुद्ध होने पर सोने के स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं और सोने का पीतवर्ण खमक उठता है। वैसे ही यह जीवन भी अनादि काल से कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है। यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का भण्डार है। किन्तु संसार दशा में यह इन्द्रियों की सहायता के बिना न जान सकता है, न देखा सकता है और न सुख का अनुभव कर सकता है। इससे इसे यह विश्वास हो गया है कि जानना, देखना मेरा स्वभाव नहीं है, यह तो इन्द्रियों का धर्म है। इन्द्रियाँ और शरीर ही सब कुछ है, इनके सिवाय जीव और कुछ नहीं है। किन्तु ऐसी धारणा बिल्कुल भ्रान्त है। शरीर और इन्द्रियों से भिन्न जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। जब वह इस शरीर में से निकल जाता है तो शरीर और इन्द्रियों के रहते हुए भी नवीन शव में न ज्ञान रहता है और न दर्शन रहता है।

ज्ञान और दर्शन की तरह सुख भी जीव का ही गुण है। किन्तु उसे भी यह भूल गया है और सुख की प्राप्ति के लिए बाह्य वस्तुओं की चाह में भटका फिरता है। इसकी दशा उस हिरण की सी है, जिसकी नाभि में कस्तूरी है किन्तु वह उसे नहीं जानता और कस्तूरी की गन्ध को सूंघकर इधर-उधर उसकी खोज में भटकता फिरता है। अतः बाह्य वस्तुओं में सुख को खोजना आननता है। सुख का तो तुम्हारे ही अन्दर भण्डार है उस भण्डार की कुंजी भी तुम्हारे ही पास है। वह कुंजी सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्त करने का प्रधान साधन है। और मोक्ष अनन्त सुख स्वरूप है अतः सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की चेष्टा करो।

सात तत्वों के यथार्थ श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन है। वे सात तत्व इस प्रकार हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। धर्म का सम्बन्ध जीव से है उसी को उत्तम सुख प्राप्त कराने के लिए धर्म का उपदेश दिया जाता है, तथा वही मोक्ष प्राप्त कराते हैं, अतः जीव के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान होना जरूरी है। जीव के दुखों का मूलकारण उसके द्वारा बांधे गये कर्म हैं। कर्म अजीव है। अतः कर्मों का स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। जड़ कर्म का जीव तक आना आस्रव है। जीव और कर्म का परस्पर में बन्ध जाना बन्ध है। इन चारों तत्वों को समझ लेने से संसार के कारणों का पूरा ज्ञान हो जाता है।

उसके पश्चात मुक्ति और उसके कारणों को जानना भी जरूरी है। नवीन कर्मबन्ध के रुकने को संवर कहते हैं। पुराने बंध हुए कर्मों के धीरे-धीरे झड़ने को निर्जरा कहते हैं। और आत्मा के समस्त कर्मबन्धनों से छूट जाने को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। प्रत्येक मुमुक्षुको इन सात तत्वों का सच्चा ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र ये तीनों ही मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं यदि इनमें से एक भी न हो तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तथा वही ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है और वही चारित्र सम्यक् चारित्र है जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक पाला जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र निष्फल है। जैसे अंन्धे मनुष्य का दौड़ना उसके पतन का ही कारण होता वैसे ही सम्यग्दर्शन से शून्य चारित्र

भी मनुष्य को गिराने वाला ही होता है । इष्ट और अनिष्ट विषयों में समताभाव रखने का नाम सम्यक् चारित्र है । पूर्ण सम्यक् चारित्र हिंसा का सर्वथा त्याग कर देने वाले मुमुक्षु मुनिराजों के ही होता है ।

भव्य जीवों ! हिंसा ही दुःख का कारण है और अहिंसा ही सुख का कारण है । अपने से किसी के मर जाने या दुखी हो जाने का ही नाम हिंसा नहीं है । संसार में सर्वत्र जीव भरे हुए हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी हैं । किन्तु उसका नाम हिंसा नहीं है । वास्तव में हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है । जो मनुष्य जीवों की हिंसा करने का भाव नहीं रखता, बल्कि उनको बचाने का भाव रखता है उनके द्वारा किसी की हिंसा के हो जाने पर भी उसे हिंसा का पाप नहीं लगता : क्योंकि वह मन से हिंसक नहीं है । किन्तु जो मनुष्य यत्नाचार पूर्वक अपना काम नहीं करता, चाहे जीव जिये या मरे, उसे हिंसा पाप अवश्य लगता है । अतः हिंसा और अहिंसा मनुष्य के भावों पर निर्भर है, किसी के मरने या न मरने पर नहीं । अतः यदि सच्चा सुख चाहते हो तो सन्तोषी बनो । जो सन्तोषी है वही मुमुक्षु है और जो असन्तोषी है वह बुभुक्षु है । अतः अपने में संतोष रखो और असंतोष को कभी भी स्थान मत दो । यदि तुम असंतोषी बने और बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह का संचय करने में जुट गये तो तुम्हें तो मरने के बाद ही नरक में जाना पड़ेगा, किन्तु तुम मनुष्य समाज को जीवित ही नरक में पटक दोगे । अतः यदि अपना और सबका हित चाहते तो तो अहिंसा धर्म का पालन करो । अहिंसा ही परमधर्म है इसी से सबका कल्याण होगा ।

भगवान के दिव्य उपदेश को सुनकर सभा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई । महाराज सोमप्रभ अपने छोटे भाई श्रेयांस के साथ जिनदीक्षा लेकर भगवान के गणधर हो गये । भरत की छोटी बहिन ब्राह्मी भी भगवान के उपदेश से दीक्षा लेते देखकर भगवान की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी संसार से विरक्ति हो गई और उसने भी दीक्षा धारण कर ली । जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से मारीच आदि को छोड़कर शेष सबने भगवान के उपदेश से प्रबुद्ध होकर पुनः दीक्षा धारण कर ली । महाराज भरत को चक्ररत्न की पूजा करने के लिए कुछ जल्दी हो रही थी, अतः वे भगवान को नमस्कार करके अयोध्या लौट गये । उनके पीछे-पीछे बाहुबलि आदि उनके भाई भी वापिस हो गये ।

भरत की दिग्विजय

अयोध्या लौटकर महाराज भरत ने पहले चक्ररत्न की पूजा की और फिर पुत्रोत्पत्ति का आनन्द मनाया। इस अवसर पर भरत ने इतना दान दिया कि कोई लेने वाला नहीं मिला। इसके पश्चात् भरत ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। सबसे आगे पैदल सेना थी, उसके पीछे घुड़ सवार थे, उनके पीछे रथारोही थे और उनके पीछे हाथियों का झुण्ड था। महाराज भरत रथ पर सवार थे। सारी सेना महाराज के रथ को घेरकर चलती थी। जब सेना नगर के मध्य से होकर चली तो अपने-अपने मकानों के झरोखों खड़ी हुई नारियों ने महाराज भरत के ऊपर पुष्पवर्षा की ओर नगर निवासियों के जयकार से दिङ्मंडल गूंज उठा। जब सेना नगर के द्वार के बाहर निकली तो उस असंख्य सेना को बड़ी कठिनता से धीरे-धीरे बाहर निकलना पड़ा। उस समय जहाँ तक दृष्टि जाती थी सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी।

भरत ने सबसे प्रथम पूरब दिशा को जीतने का संकल्प किया। आगे-आगे चक्ररत्न चलता था और उसके पीछे-पीछे सेना चलती थी। दण्डरत्न को आगे करके सबसे आगे सेनापति चलता था और वह उँचे नीचे दुर्गम स्थानों को एकसा करता जाता था। मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों के मुखिया लोग घी और दही से भरे हुए पात्र लेकर भरत के दर्शन करने आते थे। कितनी ही मंजिलों द्वारा लम्बा मार्ग तय करके महाराज भरत गंगा नदी के समीप पहुँचे और उन्होंने सेना सहित वहीं पड़ाव डाल दिया। दूसरे दिन प्रातः काल की क्रियाओं से निवृत्त होकर भरत ने पुनः चक्ररत्न के पीछे-पीछे प्रस्थान किया।

चक्ररत्न और दण्डरत्न ये दोनों ही रत्न चक्रवर्ती की सेना के आगे-आगे रहते हैं। चक्रवर्ती की विजय में वास्तविक कारण ये दोनों ही होते हैं, बाकी सामग्री तो केवल शोभा के लिए होती है।

इस बार भरत हाथी पर सवार थे और हजारों सेना नायक उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। सेनापति ने यह घोषणा कर दी थी कि आज समुद्र पर पहुँच कर गंगा नदी के मुहाने पर पड़ाव डालना है, यात्रा

लम्बी है अतः जल्दी करनी चाहिये। इससे सेना तीव्रगति से आगे बढ़ रही थी। मार्ग में अनेक मण्डलेश्वर राजा आ आकर भरत को प्रणाम करते थे और इस तरह बिना प्रयत्न के ही शत्रु वश में होते जाते थे। भरत को न तो तलवार हाथ में लेनी पड़ी और न धनुपर डोरी चढ़ानी पड़ी। केवल प्रभुत्व शक्ति से ही उन्होंने पूर्व दिशा को जीत लिया।

जंगली हाथियों से भरे हुए वन में रहने वाले भीलों ने जंगली हाथियों के दाँत और मुक्ता भेंट कर भरत के दर्शन किए। कितनों ने चमरी गाय के बाल और कस्तमरी मृगा की नाभि भेंट की। इस प्रकार लम्बा मार्ग तय करके महाराज भरत गंगा के मुहाने पर जा पहुँचे और गंगा तट के वन में सेना को ठहराया। वे समुद्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। अतः उन्होंने वहाँ ठहर कर तीन दिन उपवास पूर्वक अर्हन्त देव का आराधना की। उसके पश्चात सेना की रक्षा के लिए सेनापति को नियुक्त करके स्वयं दिव्य अस्त्र धारण किए और ऐसे रथ पर सवार हुए जो जल और थल पर समान रूप से चलता था।

जब वह रथ समुद्र के किनारे पहुँचा तो भरत ने सारथिए को समुद्र के अन्दर रथ बढ़ाने का आदेश दिया। आदेश पाते ही वह रथ समुद्र में जहाज की तरह शीघ्रता से आगे बढ़ने लगा। जब कुछ योजन तक जल के भीतर जाकर रथ खड़ा हो गया और चक्रवर्ती ने क्रुद्ध होकर अपना धनुष उठाया। धनुष पर डोरी चढाकर जैसे ही भरत ने टंकार की, समुद्र के अन्दर हलचल मच गई, और सारे मच्छ इधर-उधर भागने लगे।

''मैं ऋषभदेव का पुत्र चक्रवर्ती भरत हूँ। इस समुद्र पर मेरा अधिकार है। अतः जो यहाँ के निवासी हैं वे सब मेरे अधीन हों।' उच्च स्वर से यह घोषणा करके भरत ने अपना कभी व्यर्थ न जाने वाला बाण छोड़ा। बाण समुद्राधिपति मागधदेव के पास जाकर गिरा। वह उसे देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और बोला-'हम लोग शत्रुओं को जीतने से ही 'देव' कहलाते हैं। जो बाण छोड़कर मुझसे धन वसूल करना चाहता है, उसे मैं निधन-मृत्यु-दूँगा।

तब कुछ अनुभवी देवों ने उसे शान्त किया और कहा - यह बाण चक्रवर्ती का है और इस पर कुछ खुदा हुआ है। अतः यह बाण उन्हें लौटा देना चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये।

यह सुनकर मागध शान्त हुआ और चक्रवर्ती को बाण लौटा कर उसने उनकी अधीनता स्वीकार की। भरत प्रसन्न होकर अपने शिविर में लौट आये और दक्षिण दिशा को जीतने की इच्छा से समुद्र के किनारे चल पड़े। मार्ग के राजाओं को अधीन करते हुए महाराज भरत ने समुद्र के किनारे अपनी सेना ठहराई और दक्षिण दिशा को जीतकर पश्चिम दिशा की ओर बढ़े। वास्तव में भरत का कोई जीतने योग्य शत्रु ही नहीं था। फिर भी उन्हें दिग्विजय करने की इच्छा हुई थी अतः इस बहाने से वे सर्वत्र घूमते फिरते थे।

दक्षिण में नारियल, कटहल और मिर्चों की बहुतायत थी। अतः सैनिक नारियलों का पानी पीते और कटहल खाते थे। धीरे-धीरे सह्य पर्वत को लाँघकर भरत की सेना विन्ध्याचल पर पहुँची और नर्मदा नदी के किनारे उसने अपना पड़ाव डाला। सैनिकों ने वहाँ के फल, पत्र और वृक्षों का खूब उपभोग किया और फूल तक नहीं छोड़े। विन्ध्याचल के वासियों ने अनेक वन्य औषधियाँ भेंट करके भरत के दर्शन किये। कुछ ने हाथी दन्त और मुक्ता उपहार में दिये।

नर्मदा को पार करके चक्रवर्ती की सेना पश्चिम दिशा को जीतने के लिए चल दी। चलते-चलते वह उस मनोहर प्रदेश में पहुंची जहां आज गिरनार पर्वत अपना ऊँचा मस्तक किये स्थित है। वहाँ के मुखिया पुरुषों ने अपने देश की उपज, भेंट में देकर चक्रवर्ती को प्रसन्न किया। चक्रवर्ती ने भी किसी को सम्मान से, किसी को दान से, किसी को स्नेहपूर्ण व्यवहार से और किसी को प्रसन्न दृष्टि से सन्तुष्ट करके अपना प्रेमी बनाया। भरत के सेनापति ने भी अपनी विजयी सेना लेकर सब जगत भरत का आधिपत्य स्थापित किया।

इस प्रकार चक्रवर्ती भरत पूर्व दिशा के समान पश्चिम दिशा को भी जीतते हुए पश्चिम समुद्र के तट पर पहुंचे और उधर भी अपनी विजय का डंका बजाया। यहाँ से उन्होंने उत्तर दिशा की ओर प्रयाण किया और उधर के राजाओं को वश में करते हुए विलयार्ध पर्वत के समीप पहुँचे। सेना ने जैसे ही वन के भीतर प्रवेश किया उसका कलकल शब्द सुनकर वन के पशु एकदम भयभीत हो गये; उनके लिये यह कोलाहल अपरिचित था; क्योंकि उनके जीवन में किसी कटक ने उस वन में प्रवेश नहीं किया था।

वन के भीतर से जाकर सेना विजयार्ध पर्वत के समीप पहुँचकर ठहर गई और वहीं पड़ाव डाल दिया गया। भरत को ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वत का स्वामी उनके दर्शन के लिये आया। भरत ने सत्कारपूर्वक उसे उचित आसन प्रदान किया। उसने कहा–मैं इस पर्वत का रक्षक हूँ। आज तक मैं स्वतंत्र था, अब मैं आपके अधीन हूँ। यह पर्वत आधी दिग्विजय का सूचक है, इसी से इसे विजयार्ध कहते है। उस पर रहने से मेरा नाम भी विजयार्ध पड़ गया है। मैं आपकी आज्ञा को माला की तरह सिर पर धारण करता हूँ और आपके पदाति सैनिकों में से एक हूँ। इससे अधिक और मैं क्या निवेदन करूँ?

इतना कहकर उसने भरत का अभिषेक किया और अनेक बहुमूल्य वस्तुयें भेंट करके चला गया। सम्पूर्ण दक्षिण भारत को जीत लेने से चक्रवर्ती को बहुत प्रसन्नता हुई। अब उसने उत्तर भरत को जीतने का संकल्प किया। अतः कुछ दिनों तक वहीं ठहर कर सेना को विश्राम दिया गया नई सेना भी संचित की। अनेक राजा अपनी–अपनी सेना लेकर आ पहुँचे, उनमें कुरुराज जयकुमार भी थे। अब तक तो एक तरह से स्वदेश को ही जीता था, किन्तु आगे विदेश को जीतना था, जिसमें म्लेच्छ राजाओं का आधिपत्य था। और स्वामी का कार्य कसद्ध करके विदेयों में अपना यश फैलने का उत्कृष्ट भावना थी। किन्तु कुछ सैनिक ऐसे भी थे जो दुर्गम पर्वत को लाँघने और बड़ी–बड़ी नदियों को पार करने की बातें सुनकर आगे नहीं बढ़ना ही उचित समझते थे।

एक दिन भरत ने पर्वत से उतरते हुए एक व्यक्ति को देखा। उसका तेज देखकर भरत प्रभावित हुए और पास आनेपर उसे उचित आसन दिया। वह कहने लगा–देव! हमलोग तो नाम मात्र के देव है, वास्तविक देवत्व तो आप में ही है। मैं इस पर्वत के शिखरपर रहता हूँ और आपकी सेना का कोलाहल सुनकर ही आज पर्वत से उतरकर यहाँ आया हूँ। मैं इस पर्वत की गुफाओं और वनों से सुपरिचित हूँ। अतः जो सेवा मेरे योग्य हो, आदेश कीजिये। उत्तर भारत में जाने के लिये इस पर्वत में आरपार एक गुफा है, उसका द्वार बन्द है। उसमें प्रवेश करने का उपाय में बतला सकता हूँ।

यह सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने सेनापति को

उस देव के द्वारा बतलायें गये उपायों से विजयार्ध पर्वत का गुफा के द्वारा खोलने का आदेश दिया। आदेश पाते ही चतुर सेनापति दण्डरत्न ने गुफा के द्वारपर प्रहार किया। भयंकर शब्द के साथ गुफा का द्वार खुल गया और उसमें से भंयकर ऊष्मा निकलने लगी। जैसे ही द्वार खुला सेनापति का अश्व तुरन्त ही अपने सवार के साथ वहाँ से हवा हो गया और इस तरह सेनापति उस भंयकर ऊष्मा से बच गया। चिरकाल में समीपवर्ती म्लेच्छ प्रदेशों को विजित करने में अपना समय बिताया।

जब गुफा की गर्मी शान्त हो गई और सेवकों ने उसे स्वच्छ कर डाला तब चक्रवर्ती ने सेना के साथ उस गुफा में प्रवेश किया। किन्तु गुफा में घना अन्धकार था अतः सेना घबरा उठी। तब चक्रवर्ती की आज्ञा से सेनापति के साथ-साथ उस अन्धकार में से निकलने का उपाय किया। उन्होंने का किणीरत्न और चूड़ामणि रत्न की सहायता से गुफा के दोनों ओर की दीवारों पर ऐसे प्रकाश स्तम्भ स्थापित किये, जिनका प्रकाश एक योजन तक होता था। उसके पश्चात सेना आगे बढ़ी, किन्तु उसे दिशा ज्ञान नहीं रहा कि किधर पूरब और किधर पश्चिम है।

जब सेना ने आधी गुफा तयकर ली तो सेना ऐसे स्थान पर पहुँची जहाँ गुफा के दोनों ओर दो नदियाँ निकलकर सिन्धु नदी में मिलती थी। उन नदियों में से एक नदी में तो यह विशेषता थी कि वह उल्टी थी, उसमें जो वस्तु डाली जाती, उसे वह तुरन्त ऊपर उछाल देती थी। चक्रवर्ती चिन्ता में पड़ गये कि उन्हें कैसे पार किया जाये। उन्होंने तुरन्त ही अपने स्थपति को बुलाया। यह वायु के दबाव का खेल है। पुल बाँधने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं था अतः स्थपति ने विशालकाय वृक्षों के द्वारा पुल का निर्माण करके उस पर से सेना को पार उतार दिया। उसके पश्चात् कठिन रास्ता तय करके सेना गुफा के उत्तर द्वार पर जा पहुँची। हाथियों की सहायता से द्वार के खुलने पर जब सेना गुफा से बाहर हुई तो उसे ऐसा लगा मानों उसका दूसरा ही जन्म हुआ है।

उधर पहुँचते ही सेनापति ने पश्चिम म्लेच्छ खण्ड को जीत लिया। उसके पश्चात् मध्यम म्लेच्छ खण्ड को जीतने का उपक्रम किया। इतने में चिलात और आवर्त नाम के दो म्लेच्छराज शत्रु की सेना का आगमन और म्लेच्छ देशों का पराभव सुनकर बहुत उत्तेजित हुए। 'हमारे देश में शत्रु सेना का आना एक बिल्कुल नई बात हैं। हमें देश पर आये इस

संकट का प्रतिकार करना ही चाहिए।' यह सोचकर वे दोनों युद्ध के लिए तैयार हुए। तब उनके मंत्रियों ने उन्हें समझाया और कहा– 'राजन्! विजयार्ध पर्वत को लाँघकर आने वाला कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकता। अतः युद्ध का उद्योग न करके किसी किले का आश्रय लेना चाहिये। दूसरी बात यह भी है हमारे कुलदेवता अवश्य ही शत्रुओं को रोकेंगे। उनका ही स्मरण करना चाहिए।

मंत्रियों की सलाह मानकर म्लेच्छराज ने अपने कुलदेवताओं का स्मरण किया। इतने में ही घोर वृष्टि आरम्भ हो गई और वायु ने भी विकराल रूप धारण कर लिया। किन्तु चक्रवर्ती तो सब तरह की तैयारी करके ही उत्तर भारत को जीतने आया था। अतः सेना की सुरक्षा के लिए तुरन्त ही जमीन पर चर्मरत्न बिछा दिया गया और ऊपर इतना बड़ा जल रक्षक छत्ररत्न तान दिया गया जिसके अन्दर समस्त सेना आराम से सात दिन तक ठहरी रही। उस अण्डाकार मण्डप के भीतर की रक्षा का भार सेनापति पर था और बाहर से रक्षा का भार जयकुमार के ऊपर था। एक दिनम्लेच्छों ने एक शिविर पर आक्रमण कर दिया तब कुरुराज जयकुमार ने घोर संग्राम करके उन्हें जीत लिया। इस हार से भयभीत होकर दोनों म्लेच्छ राजों ने चक्रवर्ती की दासता स्वीकार कर ली। उसके पश्चात सेना आगे बढ़ी।

अपनी इस विजय से चक्रवर्ती भरत का मन अभिमान से फूल उठा। वह सोचने लगा कि जब से यह संसार है किसी ने भी मेरी तरह दिग्विजय नहीं की। मैं ही प्रथम चक्रवर्ती हूँ। इस तरह सोचते-सोचते अभिमानी भरत वृषभाचल नामक पर्वत के पास आ पहुँचे। उनके मन में हुआ कि यह पर्वत बड़ा मनोहर है, क्यों न इसके ऊपर अपनी दिग्विजय का सूचक लेख अंकित किया जाये। यह विचार आते ही चक्रवर्ती भरत हर्षोत्फुलत होकर हाथ में काकणीरत्न लेकर अभिमान पूर्वक वृषभाचल के निकट पहुँचे। ज्यों ही वह कुछ लिखने को हुए त्यों ही उनकी दृष्टि वहाँ खुदे हुए हजारों चक्रवर्ती राजाओं के नामों पर पड़ी। यह देखकर भरत को बहुत विस्मय हुआ और उनका अहंकार कुछ कम हुआ। अन्त में उन्हें किसी एक चक्रवर्ती के नाम को मिटाकर ही अपना नाम लिखना पड़ा। संसार की स्वार्थपरायणता का यह एक उदाहरण था।

इसके पश्चात वहाँ से प्रस्थान करके चक्रवर्ती भरत उस स्थान को

देखने गये जहाँ हिमवात् पर्वत से गंगा नदी गिरती है। वहाँ से उन्होंने गंगा के किनारे प्रस्थान किया और इस प्रकार उत्तर भारत को जीत करके पुनः विजयार्ध पर्वत की तलहटी में आ पहुँचे। वहाँ ठहरकर उन्होंने सेनापति को आज्ञा दी कि विजयार्ध की इस दूसरी गुफा का द्वार भी खोलकर पूर्वखण्ड पर विजय प्राप्त करो। अब तक सेनापति उधर के म्लेच्छदेशों को जीतकर वापिस आया तब तक महाराज भरत वहीं ठहरे रहे। इस बीच में विद्याधरों के राजा नाभि और विनमि भरत दर्शनों के लिए आये। उन्होंने उपहार में अनेक रत्नों के साथ अपनी बहिन सुभद्रा भी चक्रवर्ती को अर्पित कर दी। भरत ने उसके साथ वहीं विवाह किया।

सेनापति के लौट आने पर महाराज भरत ने अपनी सेना के साथ विजयार्ध पर्वत की दूसरी गुफा में प्रवेश किया और उसमें से होते हुए पुनः दक्षिण भरत में लौट आये।

इस प्रकार समस्त पृथ्वी को जीतकर चक्रवर्ती ने अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया और गंगा नदी के किनारे-किनारे अनेक देशों को लाँघते हुए कैलाश पर्वत के समीप पहुँचे। वहीं ऋषभदेव की पूजा के लिए प्रस्थान किया। उनके पीछे-पीछे अनेक राजा लोग भी गये। सवारियों को पर्वत के नीचे ही छोड़कर महाराज भरत पर्वत पर पैदल ही चढ़ने लगे। चढ़ते-चढ़ते वे एक वन खण्ड में से होकर गुजरे। उस वन में कहीं अजगर पड़े सोते थे और कहीं सिंह-शिशु क्रीड़ा कर रहे थे। अत्यन्त पवित्र शान्ति छाई हुई थी और हिंसक जन्तु भी अपनी स्वभावगत क्रूरता को भूल गये थे। यह सब भगवान ऋषभदेव का प्रभाव था, जो कैलाश पर्वत पर समवसरण सहित विराजमान थे।

महाराज भरत ने पर्वत पर पहुँच कर समवसरण को देखा और उसके अन्दर भक्ति पूर्वक प्रवेश किया। दूर से भगवान को देखते ही भरत आनन्द से भर गये। उन्होंने अपने दोनों घुटने जमीन पर टेककर भगवान को नमस्कार किया तथा उनकी पूजा भी की। पूजा के पश्चात भगवान की स्तुति करके वे कैलाश पर्वत से उतर आये और उन्होंने अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया।

भरत के छोटे भाइयों का गृहत्याग

अयोध्या पहुँचकर चक्रवर्ती भरत को नगर के बाहर ही रुक जाना पड़ा, क्योंकि सेना के आगे-आगे चल. वाला चक्ररत्न नगर के मुख्य द्वार पर जाकर रुक गया और द्वार को लांघकर आगे नहीं जा सका। यह देखकर सब आश्चर्य चकित रह गये। सेनापति ने चक्रवर्ती से कहा। वे भी आश्चर्य करते हुए विचार में पड़ गये। जिसकी गति कहीं नहीं रुकी अपने ही नगर में आकर उसकी गति रुक जाना एक अनहोनी सी बात थी।

भरत ने तुरन्त ही अपने मंत्रियों और पुरोहित को बुलवाया और पूछा- जो चक्ररत्न समस्त दिशाओं को जीतने में कहीं नहीं रुका वह आज मेरे ही नगर के द्वार पर आकर क्यों रुक गया है ? क्या मेरे साम्राज्य में ही कोई शत्रु मौजूद है, अथवा मेरे वंश में ही कोई ऐसा व्यक्ति है जो मेरे उत्कर्ष को नहीं सह रहा है ? चक्ररत्न की गति बिना किसी विशेष कारण के नहीं रुक सकती। अतः आप अच्छी तरह विचारकर इसका कारण बतलायें।

भरत का जिज्ञासापूर्ण प्रश्न सुनकर पुरोहित कहने लगा- देव! हमने निमित्तज्ञों के मुख से सुना है कि जब तक कुछ भी दिग्विजय करना शेष रहता है तब तक चक्ररत्न कभी भी नहीं रुकता। इस लिए नगर के द्वार पर चक्ररत्न के रुकने से ऐसा प्रतीत होता है, कि अब भी कोई जीतने से शेष रह गया है और वह बाहर नहीं है, घर में ही है। नाथ ! यद्यपि आपने बाहर के शत्रुओं को जीत लिया है, तथापित आपके भाइयों ने आपको नमस्कार नहीं किया है। वे आपके विरुद्ध हैं। उन्होंने निश्चय किया है कि हम भगवान ऋषभदेव के सिवाय अन्य किसी को नमस्कार नहीं करेंगे। आपके सभी भाई बड़े बलवान हैं, किन्तु उनमें भी बाहुबलि मुख्य हैं। अतः इसका शीघ्र ही प्रतिकार होना चाहिए, क्योंकि नीतिज्ञों का कहना है कि आग की एक चिंगारी की भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

पुरोहित के वचन सुनकर चक्रवर्ती भरत एक दम क्रूद्ध हो गये और

लाल-लाल आँखें निकाल कर कठोरता पूर्व बोले-क्या कहा? मेरी ही दुष्ट भाई मुझे नमस्कार नहीं करते ? मैं उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा। वे सोचते हैं कि एक ही कुल में उत्पन्न होने के कारण हम अवध्य हैं हमें कोई मार नहीं सकता। उनका यह मिथ्या विश्वास शीघ्र ही दूर हो जायेगा। वे पिताजी के द्वारा दी हुई भूमि को बिना कर दिये ही भोगना चाहते हैं किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। अब या तो उन्हें यह घोषणा करनी होगी कि इस पृथ्वी का स्वामी भरत है और हम सब उसके अधीन हैं, या रण में मृत्यु का आलिंगन करना होगा। सबसे अधिक खेद तो मुझे, बाहुबलि के प्रति है, मैं उसे भ्रातृप्रेमी समझता था। किन्तु अब में उसे नहीं छोड़ सकता। बाहुबली के सिवाय अन्य भाइयों ने मुझे नमस्कार भी किया तो उससे क्या ? उसके पोदनपुर के बिना यह विस्तृत साम्राज्य भी मेरे लिये विष के समान हैं।

चक्रवर्ती को क्रोधान्ध देखकर पुरोहित ने उपदेश पूर्ण वचनों से शान्त करते हुए कहा-देव! इस उपकार करने वाले क्रोध को दूर कीजिये। जितेन्द्रिय मनुष्य केवल क्षमा से ही पृथ्वी को जीतते हैं। अतः चतुर दूतों को भेजकर अपने भाइयों को वश में करना ही उचित हैं। इससे आपका यह होगा। यदि वे शान्ति से वश में न हों तो फिर आगे का विचार करना चाहिये।

पुरोहित के हितकर वचन सुनकर भरत एकदम शांत हो गये और उन्होंने बाहुबली को छोड़कर पहले शेष भाइयों के पास ही दूत भेजना उचित समझा। दूतों ने जाकर चक्रवर्ती का सन्देश सुनाया। सुनकर सब भाइयों ने परस्पर में परामर्श करके दूत से कहा- 'दूत ! भरत का कहना उचित है क्योंकि पिता के अभाव में बड़ा भाई ही पूज्य होता है। किन्तु हमारे पिता अभी विराजमान है और यह राज्य भी उन्हीं का दिया हुआ है। अतः हम उन्हीं की आज्ञा के अधीन हैं। भरत से न हमें कुछ लेना है और न देना हैं।' इतना कहकर उन भाइयों ने दूत को सम्मान पूर्वक विदा किया और स्वयं कैलाश पर्वत पर विराजमान भगवान ऋषभदेव की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया- 'देव! आपने ही हमें जन्म दिया है और आपने ही यह विभूति दी है अतः हम आपके सिवाय अन्य किसी की सेवा करना नहीं चाहते। फिर भी भरत ने कहलाया है कि आकर मुझे नमस्कार

करो। किन्तु हम इस जन्म में तो क्या पर जन्म में भी आपके सिवाय किसी अन्य देव और मनुष्य को प्रणाम करने में असमर्थ हैं। अतः हम आपके समीप में उस जिनदीक्षा को धारण करने के लिए आये हैं, जिसमें दूसरों को प्रणाम करने से मानभंग का भय नहीं रहता। जो मार्ग हितकर और सुखकर हो, वह हम लोगों को बतलाइये।

इतना कहकर राजकुमार चुप हो गये और जिज्ञासा पूर्वक भगवान के मुख की ओर देखने लगे। भगवान बोले–भद्रो ! तुम मनस्वी और गुणी होकर दूसरों के भारवाही कैसे हो सकते हो ? यह राज्य और जीवन चंचल है, यौवन का उन्माद एक नशा है, सैन्य शक्ति बलवान के द्वारा पराजित हो जाती है, धन सम्पत्ति को चोर चुरा ले जाते हैं तथा वह तृष्णारूपी अग्नि को भड़काने के लिए ईधन के तुल्य है अतः ये सब व्यर्थ हैं। चिरकाल तक भोग कर भी जिनसे तृप्ति नहीं होती, उल्टे खेद ही होता है, ऐसे ये विषय भी विषमिश्रित भोजन के समान हैं। फिर ऐसे कौन से विषय हैं जिन्हें तुमने भोगा नहीं है ? बार–बार भोगे हुओं को ही भोगने से क्या कभी तृप्ति हो सकती है? जिस राज्य में शत्रु मित्र और भाई बन्धु शत्रु हो जाते हैं तथा सर्व भोग्या इस पृथ्वी को भोगना पड़ता है, ऐसे राज्य को धिक्कार है। जब तक भरत के पुण्य का उदय है तब तक वह इस पृथ्वी को भले ही भोग ले, किन्तु एक दिन उसे भी इन नश्वर राज्य को छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए इस अस्थायी राज्य के लिए तुम लोग क्यों व्यर्थ आपस में लड़ते हो ? यदि लड़ना ही है तो आत्मा के शत्रु बन कर्मों से लड़ो जिन्होंने तुम्हें चिरकाल से अपना दास बना रखा है।

भगवान के वचन सुनकर राजकुमार गद्‌गद् हो गये और उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर ली।

मोह की पराकाष्टा

भरत के छोटे भाइयों ने राज्य का त्याग कर दिया किन्तु फिर भी महाराज भरत का मन निराकुल नहीं हो सका। बलवान बाहुबली अभी भी राज्यासीन था और उसको अनुकूल करना सरल नहीं था। भरत जानते थे कि बाहुबलशाली बाहुबली सामान्य संदर्शों से वश नहीं हो सकता। अन्य क्षत्रिय युवाओं में और बाहुबली में उतना ही अन्तर था जितना हिरणों में और सिंह में अन्तर होता है। वह बड़ा नीतिज्ञ था अतः भेदनीति से भी सफलता मिलने की आशा नहीं थी। बड़ा पराक्रमी था, इसलिए युद्ध से भी उसे वश में नहीं किया जा सकता था। और स्वभाव से बड़ा उग्र था अतः शान्ति से भी समस्या हल नहीं हो सकती थी। इन कारणों से चक्रवर्ती भरत बहुत ही चिन्तित थे और उसका शीघ्र ही प्रतिकार कराना चाहते थे। बहुत सोच विचार के पश्चात् उन्होंने एक चतुर दूर बाहुबली के पास भेजा।

अपनी कार्य सिद्धि के लिए अनेक उपाय सोचता हुआ राजदूत पोदनपुर पहुँचा। नगर के बाहर पके कुए धान के खेत लहलहा रहे थे और किसान कटाई में लगे हुए थे। ईख के खेतों में गायें चर रही थीं, उनके थनों से दूध भरा पड़ा था। किसानों की स्त्रियाँ खेतों में बैठकर पक्षियों को भगा रहीं थी। ये सब मोहक दृश्य देखते हुए दूत ने नगर में प्रवेश किया और राजभवन के आँगन में पहुँचकर द्वारपाल के द्वारा अपने आगमन का समाचार कहलाया।

जब दूत राजदरबार में उपस्थित हुआ तो क्षात्रतेज पुंज महाराज बाहुबलि पर दृष्टि पड़ते ही कुछ घबरा सा गया। विनम्र मस्तक से आकर दूत ने बाहुबलि को नमस्कार किया और बाहुबलि ने सत्कारपूर्वक उसे अपने पास बिठाया।

जब दूत अपना स्थान ग्रहण कर चुका तो बाहुबली ने मुस्कराते हुए कहा–भद्र! समस्त पृथ्वी के स्वामी आप के

चक्रवर्ती कुशल से तो हैं ? आज बहुत दिनों में उन्होंने हम लोगों को स्मरण किया है । सुना है उन्होंने सब राजाओं को जीत लिया है और सब दिशाओं को अपने अधीन कर लिया है । उनका यह कार्य समाप्त हो चुका या कुछ शेष हैं ?

दूत विनय पूर्वक बोला–देव ! हम लोग दूत हैं, अपने स्वामी की आज्ञानुसार चलना हमारा धर्म है । इसलिए चक्रवर्ती ने जो उचित आज्ञा दी है उसे स्वीकार कर लेने में ही आपका गौरव है । भरत प्रथम चक्रवर्ती है, आपका बड़ा भाई है । उसने सब पृथ्वी को अपने वश में कर लिया है । देवता उसे नमस्कार करते हैं । उसके एक ही बाण ने महासमुद्र के अधिपति व्यन्तर देव को उसका किंकर बना दिया । विजरार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों ने भी इसका जयघोस किया ! उत्तर भरत में जाकर वृषभाचल पर उसने अपनी प्रशस्ति अंकित की । जब देव उसके सेवक हैं और लक्ष्मी दासी है । उन्हीं महाराज भरत ने अपने आशीर्वाद से आपका सन्मानकर आज्ञा की है कि समुद्र तक फैला हुआ यह राज्य भाई बाहुबली के बिना शोभा नहीं देता । अतः आप भरत के समीप जाकर उन्हें प्रणाम करें । भरत की आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती, जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, उन पर चक्ररत्न का आव्यर्थ प्रहार होता है । अतः आप शीघ्र ही चलकर उनका मनोरथ पूर्ण करें । आप दोनों भाइयों के मिलाप से यह संसार भी मिलकर रहना सीखेगा ।

दूत के वचन सुनकर मन्द हँसते हुए धीर वीर बाहुबलि कहने लगे – दूत ! जिन्हें शान्ति से भी वश नहीं किया जा सकता उनके साथ अहंकार का प्रयोग करना मूर्खता है । भरत उम्र से बड़े किन्तु बूढ़ा हाथी सिंह के बच्चे की बराबरी नहीं कर सकता । यह ठीक है कि बड़ा भाई पूज्य होता है । किन्तु जिसने सिर पर तलवार रख छोड़ी है उसे प्रणाम करना कहाँ की रिति है ? भगवान ने हम दोनों को ही राजपद दिया था, यदि भरत लोभ में पड़कर 'राजराज' बनना चाहते हैं तो भले ही बनें, किन्तु हम तो अपने सुराज्य में रहकर राजा ही बने रहना पसन्द करते हैं । वह हमें बच्चों की तरह फुसलाकर तथा हम से प्रणाम करवाकर

भूमि का टुकड़ा देना चाहता हैं किन्तु हमारे लिये भरत का दिया भूमिखण्ड खली के टुकडे की तरह तुच्छ है। मनस्वी पुरुष अपनी भुजाओं के परिश्रम से प्राप्त अल्प फल में ही सन्तुष्ट रहते हैं। जो पुरुष राजा होकर भी अपमान से मलिन ही सन्तुष्ट रहते हैं। जो पुरुष राजा होकर भी अपमान से मलिन विभूति को स्वीकार करता है वह नरपशु है और उसकी विभूति एक भार है। मान भंग कराकर प्राप्त हुई भोग सम्पदा में अनुरक्त मनुष्य-मनुष्य नहीं, पशु है। मुनि भी जब स्वाभिमान को नहीं छोड़ते तब फिर राजपुरुष कैसे अपना अभिमान छोड़ सकता है ? वन में जाकर रहना अच्छा है और प्राणों को छोड़ देना भी अच्छा है, किन्तु स्वाभिमानी पुरुष के लिये किसी का दास होना अच्छा नहीं है। धीर मनुष्य प्राण देकर भी मानकी रक्षा करते हैं क्योंकि मान पूर्वक कमाया हुआ यश ही संसार की शोभा है। वही उपभोग करेगा या मैं ही उपयोग करूँगा। हम दोनों का जो कुछ होना होगा वह युद्धभूमि में ही होगा।

इस प्रकार कहकर स्वाभिमानी बाहुबलि ने दूत को विदाकर दिया और युद्ध की तैयारी का आदेश दिया। उधर जब दूत के मुख से बाहुबली का निर्णय ज्ञान हुआ तो भरत ने भी अपनी सेना के साथ पोदनपुर की ओर प्रस्थान किया। दोनों ओर की सेनाएँ रणभूमि में आ डटीं और दोनों पक्ष के शूरवीर योद्धा अपनी-अपनी सेना की व्यूह रचना करने में जुट गये।

इधर सेनापति युद्ध की तैयारियाँ कर रहे थे उधर मंत्रीगण विचार-विमर्श में लगे हुए थे। उनका कहना था कि वे दोनों भाई चरमशरीरी हैं अतः युद्ध से उनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल दोनों पक्ष के योद्धा मारे जायेंगे और व्यर्थ में भीषण नरसंहार होगा। यह विचार कर दोनों ही पक्षों के मंत्रियों ने अपने स्वामी की अनुकति लेकर उनके सामने यह विचार रखा कि निष्कारण नरसंहार करने से बड़ा अधर्म होगा और अपयश फैलेगा। बलाबल की परीक्षा अन्य प्रकार से भी हो सकती है। अतः आप दोनों भाई तीन प्रकार का युद्ध करें। और जिसकी पराजय हो व उसे भ्रकुटी टेढी किये बिना सहन करें तथा जिसकी

विजय हो वह उसे बिना अहंकार के वरण करें, भाई-भाई का यही धर्म है। सब राजाओं और मंत्रियों के आग्रह से दोनों भाइयों ने इस विचार को स्वीकार किया। तुरन्त ही सेना में यह घोषणाकर दी गई कि जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और वाहुयुद्ध में दोनों में से जो विजयी होगा वही जयलक्ष्मी का स्वामी माना जायेगा।

इस घोषणा के पश्चात दोनों ओर के प्रमुख-प्रमुख पुरुष अपने-अपने स्वामी के साथ दोनों ओर बैठ गये। सबसे प्रथम दृष्टियुद्ध हुआ और उसमें बाहुबली की सेना तुमुल जयघोष करने लगी। तब प्रमुख पुरुषों ने उसे ऐसा करने से रोककर मर्यादा की रक्षा की।

इसके पश्चात् दोनों भाई जलयुद्ध करने के लिए सरोवर में उतरे और अपनी लम्बी भुजाओं से एक दूसरे पर पानी फेंकने लगे। भरत से बाहुबली के विशाल वक्षस्थल से टकराकर ऐसे लौटता था जैसे पर्वत से टकराकर समुद्र की लहर लौट आती है। और बाहुबली के द्वारा उछाला गया जल भरत के मुख, आँख, नाक और कानों में भर जाता था। अतः जलयुद्धों में भरत के पराजित होने से बाहुबली की सेना ने पुनः जयघोष किया।

इसके पश्चात् दोनों नरशार्दूल वाहुयुद्ध के लिए रंगभूमियों में उतरे। दोनों ने हाथ मिलाये, ताल ठोंकी, पैंतरे बदले और फिर आपस में भिड़ गये। अचानक बाहुबली ने चक्रवर्ती भरत को दबोच लिया और उन्हें एक हाथ से ऊपर उठाकर अलात चक्र (बरैंठी) की तरह घुमा डाला। बाहुबली चाहते तो चक्रवर्ती को जमीन पर पटक सकते थे किन्तु उन्होंने उनकी पद मर्यादा का विचार करके वैसा नहीं किया और चक्रवर्ती को अपने कन्धे पर बैठा लिया। उस समय बाहुबली के पक्ष में तुमुल जयघोष हुआ और भरत पक्ष के राजाओं ने लज्जा से अपने सिर झुका लिये।

दोनों पक्षों के सामने हुए अपमान से चक्रवर्ती भरत क्रोध से अन्धा हो गया। उसने नीति-अनीति का विचार किये बिना चक्ररत्न का स्मरण किया और उसे बाहुबली पर चला दिया। चक्र ने बाहुबली के पास जाकर, उसकी प्रदक्षिणा की और तेजहीन होकर वहीं ठहर गया। अब तो बड़ो ने चक्रवर्ती को धिक्कारा

और उनके इस अकृत्य के लिए खूब ही उनकी भर्त्सना की। चक्रवर्ती को और भी अधिक लज्जित और तिरस्कृत होना पड़ा। उस समय उनके मन की व्यवस्था को पार नहीं था।

उधर दोनों पक्ष के प्रमुख राजाओं ने समीप जाकर बाहुबली की प्रशंसा करते हुए उनका खूब आदर सत्कार किया। उस समय बाहुबली ने भी अपने को बड़ा अनुभव किया। किन्तु तो घटना घट चुकी थी उसने बाहुबली को विचार सगार में डाल दिया। वह सोचने लगे -देखों, हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह साम्राज्यलक्ष्मी व्यभिचारिणी स्त्री के तुल्य है जो एक स्वामी को छोड़कर दूसरे स्वामी के पास चली जाती है। फिर भी अविवेकी मनुष्य उसे नहीं छोड़ता। मालूम होता है कि भरत की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है तभी तो वह इस नश्वर राज्य को अविनश्वर मानता है।

इस प्रकार ज्यों ज्यों बाहुबली अपने बड़े भाई की नीचता का विचार करते थे त्यों - त्यों उन्हें घोर कष्ट होता था। अन्त में वह भरत से बोले-राजश्रेष्ठ ! क्षणभर के लिए अपनी लज्जा छोड़कर मेरा कहा सुनो-तुमने आज बड़ा दुःसाहस किया है जो मेरे इस अभेद्य शरीर पर चक्र का प्रहार किया है। जैसे वज्र के बने पर्वत को वज्र से कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती वैसे ही तेरा यह चक्र मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। दूसरी, तुमने जो अपने भाइयों का घर उजाड़कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तुमने खूब धर्म और यश कमाया है। आने वाली पीढ़ियाँ कहेंगी कि आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के बड़े पुत्र चक्रवर्ती भरत ने अपने कुल का अच्छा उद्धार किया था। पाप से सनी हुई जिस राज्य लक्ष्मी को तू अविनाशी समझता है यह तुझे ही मुबारिक हो, अब यह मेरे योग्य नहीं है। अब तो मैं तपरूपी लक्ष्मी को स्वीकार करना चाहता हूँ। मुझसे जो अपराध हुआ है उसे क्षमा करो। मैं अपनी चंचलता के कारण विनय को भूल बैठा इसका मुझे खेद है।

बाहुबली की इस उदार वाणी को सुनकर चक्रवर्ती के सन्तप्त हृदय में कुछ शीतलता आई वह अपने दुष्कृत्य के लिए पश्चाताप

करने लगा। फिर तो उसने बाहुबली की बहुत अनुनय की, किन्तु बाहुबली अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए और अपने पुत्र महाबली को राज्य देकर विरक्त हो वन में जाकर तपस्या करने लगे। उन्होंने सब परिग्रह का त्याग करके एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया। धीरे-धीरे उन्हें चारों ओर से लताओं ने वेष्टित कर लिया, सर्पों ने अपनी वामियाँ बना लीं और अपनी वामियों से निकल निकलकर वे बाहुबली के शरीर पर निर्भय घूमने लगे। किन्तु ऐसी अवस्था होने पर भी बाहुबली रंचमात्र भी ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनका शरीर सुखकर कृश हो गया था किन्तु कान्ति ज्यों की त्यों थी। उनके माहात्म्य से वह वन भी शान्त हो गया था। किसी भी प्राणी को कोई दूसरा प्राणी नहीं सताता था। उनके तेज से पशुओं तक के हृदय का अन्धकार दूर हो गया था। वे परस्पर में किसी से द्रोह नहीं करते थे। उनके चरणों के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्पर का बैर छोड़कर उठते बैठते थे।

इस तरह कठोर तपश्चर्या करते हुए भी बाहुबली को केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। उनके चित्त में यह शल्य थी कि मेरे निमित्त से भरतेश्वर को बहुत दुःख पहुँचा। एक वर्ष पूरा होने पर एक दिन भरत ने आकर मुनिराज बाहुबली की भक्तिभाव से पूजा की। भरत के पूजा करते ही बाहुबली के हृदय की शल्य निकल गई और उन्हें तत्काल केवल ज्ञान हो गया। केवल ज्ञान के पश्चात् भगवान बाहुबली भगवान ऋषभदेव के निवास से पवित्र कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे।

भरत के देश की सामाजिक व्यवस्था

जब भरत चक्रवर्ती भारतवर्ष को जीतकर अपनी राजधानी में लौट आये जो उनके चित्त में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि परोपकार में हमारी इस सम्पत्ति का उपयोग कैसे हो? वह सोचने लगे– 'मैं बड़े वैभव के साथ जिनेन्द्र देव की महामह पूजा करके धनदान के द्वारा समस्त जगत को सन्तुष्ट करना चाहता हूँ' । किन्तु मुनि जन तो हमसे धन लेते नहीं है क्योंकि वे अत्यन्त निस्पृह होते हैं। रहे गृहस्थ, सो उनमें भी ऐसा कौन है जो धनधान्य के द्वारा पूजने के योग्य हो? जो अणुव्रतधारी और गृहस्थों में श्रेष्ठ हैं हमें इच्छित धनधान्य के द्वारा उन्हीं का सन्मान करना योग्य है।

ऐसा निश्चय करके भरतराज ने उचित पुरुषों का सत्कार करके की इच्छा से सब राजाओं को बुलवाया। और उनके पास सूचना भेज दी कि आपलोग अपने सदाचारी इष्ट मित्रों और सेवकों के साथ हमारे उत्सव में अलग–अलग आयें। इधर चक्रवर्ती ने उनकी परीक्षा करने के लिये अपने महल के आँगन में हरे अंकुर,पुष्प और फल फैलवा दिये। आगन्तुकों में जो अव्रती थे वे बिना विचारे उन हरित अंकुरों को खूँदते हुए राजमन्दिर में घुस आये। भरत ने उन्हें अलग कर दिया और बाकी बचे लोगों को बुलवाया। किन्तु अपने व्रत के विचारो से उन लोगों ने तब तक नृप मन्दिर में प्रवेश नहीं किया अपने व्रत के विचारे से उन लोगों ने तब तक नृप मन्दिर में प्रवेश नहीं किया जब तक मार्ग से हरे अंकुर वगैरह को नहीं हटा दिया गया। जब भरत ने उनसे इसका कारण पूछा तो वे बोले– आज पर्व के दिन हरे पत्र पुष्प वगैरह का विघात नहीं किया जाता, क्योंकि हम लोगों ने भगवान के मुख से सुना है कि इनमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं। अतः आप के आँगन में हरे पत्र पुष्प फैले होने से हम उन्हें खोदकर नहीं ला सके। आप इसका कोई अन्य कारन समझे।

उनका उत्तर सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें खूब दान सन्मान दिया। तथा पहचान के लिये

उन्हें एक से लेकर ग्यारह तक की संख्यावाले ब्रह्मसूत्र नाम के सूत्रों से चिन्हित किया। अर्थात् एक से लेकर ग्यारह प्रतिमा के धारी व्रती पुरुषों को एक से लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत धारण कराये। फिर उन्हें जिनपूजा आजीविका, दान, स्वाध्याय,संयम और तप इन पद्कर्मों का उपदेश दिया। और कहा-द्विजों के यही षट् कर्म हैं। जो इनका पालन नहीं करता वह नाममात्र से द्विज हैं गुणों से द्विज नहीं है। तव'श्रुताभ्यास और जाति, ये तीन ब्राह्मण होने के कारण हैं जो मनुष्य तप और श्रुताभ्यास से शून्य है वह केवल जाति (जन्म) से ही ब्राह्मण है। यद्यपि मनुष्यजाति एक ही है, फिर भी आजीविका के भेद से इस भरत क्षेत्र में उसके चार भेद हो गये हैं। व्रतों के संस्कार से मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय कहे जाते हैं, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति को अपनाने से मनुष्य शूद्र कहे जाते हैं। जो एक ओर गर्भ से और एक बार क्रिया से इस तरह दो बार उत्पन्न होता है उसे द्विज कहते हैं परन्तु जो किया और मंत्र से रहित है वह केवल नामधारी द्विज है।

इतना कहकर महाराज भरत ने द्विजों को उनकी क्रियाओं का उपदेश दिया। उनमें 53 गर्भान्वय क्रियायें हैं और 48 दीक्षान्वय क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ गर्भ से लेकर मोक्षगमन तक की हैं। इनमें से गर्भन्वय क्रियाएँ तो उन द्विजों (ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य) के लिये हैं जो जन्म से जैन धर्मावलम्बी हैं बौर दीक्षान्वय क्रियायें उन द्विजों के लिये हैं जो मिथ्या धर्म को छोड़कर जैनधर्म की दीक्षा लेते हैं। यहाँ इन दोनों क्रियाओं में से जिनरूप धारण पर्यन्त की क्रियाओं को बतलाया जाता है।

पत्नी के ऋतु स्नान के पश्चात् जिनेन्द्र देव की पूजा तथा हवन आदि पूर्वक गर्भाधान करने को आधान क्रिया कहते हैं। गर्भाधान के बाद तीसरे माह में प्रीति नाम की क्रिया होती है। इसमें भी जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है और द्वारपर मंगल कलश स्थापित किये जाते हैं। पाँचवे माह में सुप्रीति क्रिया की जाती हैं। इसमें भी पूर्ववत् पूजन वगैरह की जाती है। सातवें महीने में पूर्ववत् धृति क्रिया की जाती है। नौवे महीने में मोद क्रिया है इसमें गर्भिणी के गर्भ की सुरक्षा के लिए कंकण सूत्र आदि बाँधे जाते हैं। प्रसूति होने पर जो

जात कर्म विधि की जाती है उसे प्रियाद्भव नाम की क्रिया कहते हैं। जन्म से बारहवें दिन नाम कर्म की क्रिया होती है। उस दिन पूजन पूर्वक बालक का नाम रक्खा जाता है। उसके पश्चात् दो तीन अथवा तीन चार मास के बाद गाजे बाजे के साथ बच्चे को घर से बाहर ले जाना बहिर्यान क्रिया हैं। उस समय बालक को बन्धुजन धन वगैरह देते हैं। बालक जब बैठने योग्य हो उसे उत्तम आसनपर बैठाना निषद्या क्रिया है। जब बालक सात आठ मास का हो जाये तो जिनेन्द्र देव की पूजन करके बालक को अन्न खिलाना अन्न प्राशन क्रिया हैं। बालक के एक वर्ष का होनेपर उसकी वर्षगांठ मनाने को व्युष्टि क्रिया कहते हैं। किसी शुभ दिन में देवपूजा पूर्वक बालक के अक्षराभ्यास प्रारम्भ करने को लिपिसंख्यान क्रिया कहते हैं। चौदहवीं उपनीति क्रिया है यह आठवें वर्ष में की जाती है। इसमें प्रथम ही बालक से जिनपूजा करानी चाहिये। फिर उसे व्रत देकर उसकी कमर में मूँज की रस्सी बाँधनी चाहिये, सफेद धोती,सफेद दुपट्टा और यज्ञोपवीत पहनाना चाहिये और भिक्षा भोजन कराना चाहिए। इसके पश्चात् व्रतचर्या नाम की क्रिया होती है। इसमें वह अणुव्रतों को धारण करता है और ब्रह्मचर्या श्रम में प्रवेश करके शिक्षाभ्यास करता है। जबतक शिक्षा समाप्त नहीं होती तब तक बालक लकड़ी की दातौन नहीं करता, पान नहीं खाता, अंजन नहीं लगाता,केवल शुद्ध जल से प्रतिदिन स्नान करता है, पृथ्वीपर एकांकी सोता है और किसी से सटकर बैठता नहीं है। सबसे प्रथम उसे श्रावकाचार पढ़ाना चाहिये,फिर अध्यात्मशास्त्र पढ़ाना चाहिये, इसके पश्चात् व्याकरण,न्याय,अर्थशास्त्र आदि पढ़ाने में कोई हानि नहीं है। ज्योषित,छन्द,शकुन और गणितशास्त्र भी विशेष रूप से अध्ययन कराना चाहिये।

शिक्षा समाप्त हो चुकने के पश्चात् व्रतावरण क्रिया होती है। इसमें वह अध्ययन के समय लिये हुये विशेष व्रतों को छोड़ देता है। किन्तु मद्य,मांस,मधु,पाँच उदुम्बर फल तथा हिंसा वैगरह का त्याग तो उसने जीवन पर्यन्त के लिये किया है, अतः उन व्रतों को वह बराबर पालता है। इसके पश्चात् यदि वह शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय वर्ग का है तो शस्त्र धारण करता है, यदि क्षत्रिय वर्ग का नहीं है तो भी अपने जीवन की रक्षा के लिए अथवा शोभा के लिए शस्त्र धारण करता हैं। इसके

पश्चात् विवाह की क्रिया होती है। पवित्र स्थान में सिद्ध प्रतिमा के सामने अग्नि की साक्षी पूर्वक वरवधू का विवाहोत्सव करना चाहिये। विवाह के पश्चात् वर-वधू को ब्रह्मचर्य पूर्वक देशाटन तथा तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा करनी चाहिये। यात्रा करके घर लौटने पर कंकण खोल देना चाहिये और ऋतुकाल में ही सन्तान के लिए कामयोग करना चाहिये।

विवाह के पश्चात् भी मातापिता के साथ रहने के कारण वह परतंत्र ही रहता है। अतः उसको स्वतंत्र करने के लिए वर्णलाभ क्रिया कही गई है। पिता की आज्ञा से धन धान्य सम्पत्ति पाकर जब वह अलग मकान में रहते हुए स्वतंत्र आजीविका करने लगता है तो उसे वर्णलाभ क्रिया कहते हैं। यह क्रिया जिन पूजन पूर्वक पंचों के सामने की जाती है। उसका पिता पंचों के सामने पुत्र को धनधान्य अर्पण करके कहता है कि यह धन लेकर अब तुम अलग रहो, तुम्हें गृहस्थ धर्म का पालन करते रहना चाहिये। और जैसे मैंने अपने पिता के द्वारा प्राप्त धन से यश और धर्म कमाया है उसे गृहीशिता क्रिया कहते हैं।

जब वह गृहस्थाचार्य अपने सुयोग्य पुत्र को घर का भार सौंप कर शान्ति पूर्वक अपना जीवन धर्म-कर्म में बिताता है तो उसे प्रशान्ति क्रिया कहते हैं। उसके पश्चात् घर छोड़ देने को गृहत्याग क्रिया कहते हैं। गृह त्याग करते समय अपने धन के तीन भाग करने चाहिये, एक भाग धर्म कार्य में खर्च करना चाहिये, एक भाग घर खर्च के लिये रखना चाहिये और एक भाग ज्येष्ठ के सिवा अन्य पुत्र- पुत्रियों को बॉट देना चाहिये। ज्येष्ठ पुत्र को घर का सब भार सौंपना चाहिये और पुत्रियों को भी पुत्रों के समान भाग देना चाहिये। दीक्षा ग्रहण करने के पहले जो कुछ क्रियायें की जाती है उन्हें दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं। तथा वस्त्र आदि सब परिग्रहों को छोड़कर जिनदीक्षा पूर्वक दिगम्बररूप धारण करने को जिनरूपता क्रिया कहते हैं। इस प्रकार गर्भाधान से लेकर जिनदीक्षा धारण पर्यन्त गर्भान्वय क्रियायें हैं जो एक सम्यग्दृष्टि कुल के उचित हैं।

आगे दीक्षान्वय क्रियाओं को कहते हैं- व्रतों के धारण करने को दीक्षा कहते हैं और दीक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओं को दीक्षान्वय क्रियायें कहते हैं। जब कोई मिथ्यादृष्टि भव्य जीव सन्मार्ग को ग्रहण करने के लिए तत्पर होता है तब पहली अवतार क्रिया होती है। प्रथम

ही वह भव्य पुरुष किसी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य के पास जाकर उनसे पूछता है कि निदोष धर्म कौन सा है ; क्योंकि मुझे अन्य धर्म सुविचारित प्रतीत नहीं होते। तब मुनिराज उसे सच्चे वीतराग धर्म का उपदेश देते हैं और वह भव्य उसे सुनकर मिथ्यामार्ग को छोड़ देता है और सन्मार्ग में मन को लगाता है। उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्वज्ञान ही गर्भ है। धर्म रूपी जन्म के द्वारा वह पुरुष तत्वज्ञान रूपी गर्भ में आता है। इसी से इस क्रिया का नाम अवतार क्रिया है यह क्रिया गर्भाधान क्रिया के तुल्य मानी जाती है। उसके पश्चात् वह भव्य गुरू के चरणों को नमस्कार करके विधि पूर्वक व्रत ग्रहण करता है। इसे दूसरी वृत्तलाभ क्रिया कहते हैं। उसके पश्चात् स्थानलाभ नामक तीसरी क्रिया कहते हैं। इसकी विधि इस प्रकार है- जिनालय में पवित्र स्थानपर समवसरण मण्डल की रचना करके पूजा करे। पूजा सम्पूर्ण होनेपर आचार्य उस पुरूष को जिनप्रतिमा के सन्मुख बैठाकर बार-बार उसके सिरपर हाथ फेरते हुए कहे कि यह तेरी श्रावक दीक्षा है, तू दीक्षा से पवित्र हुआ। फिर 'यह मंत्र तुझे समस्त पापों से मुक्त करे' ऐसा कहते हुए उसे पंच नमस्कार मंत्र का उपदेश दे। इस स्थान लाभ अथवा श्रावक दीक्षा के पश्चात् जब वह मनुष्य कुदेवों को पूजना छोड़कर उन्हें अपने घर से विदा कर देता है तो चौथी गणग्रह नाम की क्रिया होती है। इसके पश्चात् वह मनुष्य जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशांत सम्बन्धी ग्रन्थों को सुनता है। इसे पूजा राध्य क्रिया कहते हैं। फिर वह साधर्मियों के साथ चौदह पूर्व सम्बन्धी शास्त्रों का श्रवण करता है। इसे पुण्य यज्ञ क्रिया कहते हैं। इस प्रकार जैन शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् वह अन्य मतों के शास्त्रों को पढ़ता हैं। इसे दृढ़चर्या क्रिया कहते हैं। पर्व के दिन उपवास करके रात्रि के समय प्रतिमायोग धारण करने को उपयोगिता क्रिया कहते हैं। इसके पश्चात् उपनीति क्रिया होती है। देव और गुरू की साक्षीपूर्वक वेष,वृत्त और समय के विधिपूर्वक पालन करने को उपनीति क्रिया कहते हैं। सफेद वस्त्र और जनेऊ आदि धारण करना वेश है। आर्यो के योग्य षट्कर्मों से जीविका करना वृत्त है और जैन श्रावक की दीक्षा का नाम समय है। इसके पश्चात् उसके गोत्र जाति आदि बदल जाते हैं।

उपनीति क्रिया के पश्चात् उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का भले

प्रकार अध्ययपन करके व्रतादि धारण करने का व्रतचर्या क्रिया कहते हैं। विद्याध्ययन करने के पश्चात् गुरु के पास फिर से अपने वस्त्राभूषण धारण करने को व्रतावरतरण क्रिया कहते हैं।

आशय यह है कि जैसे गर्भान्वय क्रियाओं में बालक के लिए आठ वर्ष की अवस्था होनेपर ब्रह्मचर्यापूर्वक गुरूकुल में रहकर विद्याध्ययन करने के विधि बतलाई है और विद्याध्ययन समाप्त होने के पश्चात् वह बालक विद्याध्ययन के लिए स्वीकृत व्रतों को छोड़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। वैसे ही नया धर्म अंगीकार करके पुनः अपना गृहस्थवेष अंगीकार करता है। इस व्रतावरण क्रिया के पश्चात् विवाह क्रिया होती है। इसमें वह अपनी पूर्स विवाहित पत्नी को श्रावक दीक्षा देकर पुनः उसके साथ विधि पूर्वक विवाह करता हूँ। इसके पश्चात् उसकी वर्णलाभ क्रिया होती है। इसकी विधि इस प्रकार है–वह भव्य पुरुष चार मुखिया श्रावकों को बुलाकर उनसे कहे–मैंने श्रावकधर्म की दीक्षा लेती है। गृहस्थों के सम्पूर्ण धर्म को मैं पालता हूँ, दान देता हूँ, पूजन करता हूँ , गुरु की कृपा से मैंने नया जन्म धारण किया है और कुल परम्परा से चले आये हुए आचार धर्म को छोड़कर सम्यक् आचार को स्वीकार किया है। व्रतों की सिद्धि के लिए ही मैंने उपनीति क्रिया भी की है और अब मैं विद्वान भी हो गया हूँ और मैंने श्रावकाचार भी पढ़ लिया है। यह सब करके ही मैंने वस्त्राभूषण धारण किये हैं। तथा पत्नी को भी श्रावकधर्म में दीक्षित करके उसके साथ पुनः विधिपूर्वक विवाह किया है। अतः अब मुझे आप अपने में सम्मिलित करने की कृपा करें। उसके ऐसा कह चुकनेपर वे श्रावक कहें कि तुम्हारा कहना उचित ही है, तुम्हारे समान दूसरा द्विज कौन है? आप जैसे पुरूषों के न मिलने पर ही हमें अपने समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के साथ सम्बन्ध करना पड़ता है। ऐसा कहकर वे उसे वर्णलाभ से युक्त करें। ऐसा करने से वह श्रावक उन श्रावकों के समकक्ष (बराबर दर्जेवाला) हो जाता है। इसके पश्चात् की क्रियाएँ पहले कहीं गई गर्भान्वय क्रियाओं के समान ही हैं।

इस प्रकार धार्मिक क्रियाओं में निपुण महाराज भरत ने राजाओं की साक्षीपूर्वक अच्छे व्रतों को धारण करनेवाले मनुष्यों को अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।

16. भरत राजा के स्वप्नों का फल

एक दिन चक्रवर्ती भरत ने कुछ स्वप्न देखें। उन्हें वे बुरा फल नेवाले प्रतीत हुए। उन स्वप्नों के देखने से भरत के चित्त में कुछ खेद हुआ और उन्होंने उनका यथार्थ फल जानने के लिये भगवान ऋषभदेव के दर्शन करने का विचार किया। इसके सिवाय उन्होंने जो ाह्मण वर्ण की नवीन सृष्टि की थी उसे भी वे भगवान के चरणों में ठकर निवेदन करना चाहते थे। तथा उन्हें भगवान का दर्शन किये ए भी बहुत समय हो चुका था। अतः चक्रवर्ती ने राजाओं के साथ गवान की वन्दना करने के लिये प्रस्थान किया।

दूर से समवसरण को देखकर भरत ने दोनों हाथ मस्तक से लगा मस्कार किया। फिर समवसरण की प्रदिक्षिणा देकर भीतर प्रवेश केया और गन्ध कुटी के पास पहुँचे। पहुँचते ही उन्होंने भगवान को मस्कार किया और विधिपूर्वक स्तुति तथा पूजा करके धर्मोपदेश श्रवण केया। उसके पश्चात् उन्होंने भगवान से निवदेन किया-भगवन्! मैंने ापके द्वारा कहे हुए उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार चलने वाले ाह्मणों की सृष्टि की है तथा ग्यारह प्रतिमाओं के विभाग के अनुसार तों के चिन्हस्वरूप एक से ग्यारह तक उन्हें यज्ञोपवीत दिये हैं। धर्म ा साक्षात् प्रणेता आपके होते हुए भी मैंने मूर्खतावश यह कार्य कर ाला है। मैने यह उचित किया या अनुचित किया, इस द्विविधा में मैं ड़ा हुआ हूँ। अतः इसके गुण-दोष को बतलाकर मेरा सन्देह दूर कर कें। इसके सिवाय आज रात्रि में मैंने सोलह स्वप्न देखें हैं, मुझे ये वप्न अनिष्ट फल देने वाला जान पड़ते हैं। कृपा करके उनका फल ी कहिये।

भरत का प्रश्न समाप्त होने पर ज्यों ही जगतद् गुरु भगवान् कुछ हने को उद्यत हुए सभा में सन्नाटा छा गया और समस्त श्रोता चेत्रलिखित से हो गये। भगवान् कहने लगे- हे वत्स! तूने जो धर्मात्मा द्विजों का आदर सत्कार किया यह उचित ही किया। परन्तु इसमें कुछ दोष है। जब तक चतुर्थ काल रहेगा तब तक तो इनका आचार ठीक

रहेगा। किन्तु पंचम काल आने पर ये जाति अभिमान के कारण सदाचार से भ्रष्ट होकर सन्मार्ग के विरोधी बन जायेंगे, मधु, मांस के प्रेमी बनकर अहिंसा धर्म को दूषित करेंगे और हिंसा धर्म का पोषण करेंगे। उस समय उनका यह यज्ञोपवीत व्रतचिह्न न रहकर पाप का चिह्न हो जायेगा। अतः यद्यपि यह ब्राह्मण वर्ण की रचना कालान्तर में बुराई उत्पन्न कराने वाली है फिर भी इस समय उसको समाप्त नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभी तो ये धर्मात्मा ही रहेंगे।

ब्राह्मण वर्ण की रचना का गुण-दोष बतलाकर भगवान स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहने लगे- तूने जो स्वप्न देखे हैं वे भी आगामी काल में धर्म के ह्रास को सूचित करते हैं- तूने जो स्वप्न में इस पृथ्वी पर एकांकी विहारकर पर्वत के शिखर पर चढ़े हुए तेईस सिंहों को देखा है उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के सिवाय शेष तेईस तीर्थङ्करों के समय में दुर्नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। दूसरे स्वप्न में अकेले सिंह के पीछे चलने वाले हिरणों का झुंड देखने से यह सूचित होता है कि महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह धारी बहुत से कुलिंगी हो जायेंगे। तीसरे स्वप्न में हाथी का बोझ उठाने से जिसकी पीठ झुक गई है ऐसे घोड़े को देखने से यह सूचित होता है कि पंचम काल के साधु तप के समस्त गुणों की धारण नहीं कर सकेंगे। कुछ मूलगुण और उत्तर गुणों को पालने की प्रतिज्ञा लेकर उनके पालने में आलसी हो जायेंगे। कुछ उन गुणों को मूल से ही भंग कर देंगे और कुछ उनसे उदासीन हो जायेंगे। चौथे स्वप्न में सूखे पत्ते खाने वाले बकरों का समूह देखने से यह सूचित होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे। (चौथे स्वप्न में सूखे पत्ते खाने वाले बकरों का समूह देखने से यह सूचित होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे) पाँचवें स्वप्न में हाथी के कन्धे पर चढ़े हुए बकरों के देखने से सूचित होता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे और अकुलीन लोग पृथ्वी का पालन करेंगे। छठे स्वप्न में कौवों के द्वारा उल्लू को त्रास दिया जाना देखने से सूचित होता है कि आगामी काल में मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों के पास न जाकर अन्य मत के साधुओं के पास जायेंगे। सातवें स्वप्न में नाचते हुए बहुत से भूतों के देखने से ज्ञात होता हैं कि लोग व्यन्तरों

को देव मानकर पूजेंगे। आठवें स्वप्न में, जिसका मध्य भाग सूखा हुआ है और चारों ओर पानी भरा हुआ है ऐसे तालाब को देखने से सूचित होता है कि आर्यखंड से हटकर धर्म निकटवर्ती म्लेच्छ देशों में ही रह जायेंगा। नौवें स्वप्न में धूल से मलिन रत्नों का ढेर देखने से सूचित होता है कि पंचकाल में ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे। दसवें स्वप्न में कुत्ते को आदर सत्कार पूर्वक नैवेद्य खिलाते देखने से सूचित होता है कि आव्रती द्विज भी गुणी पात्रों के समान सत्कार पायेंगे ग्यारहवें स्वप्न में तरुण बैल को जोर से शब्द करते हुए घूमता देखने से सूचित होता है के लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं। मेघों से अच्छादित चन्द्रमा को देखने से प्रतीत होता है कि पंचमकाल के मुनियों में अवधि और मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न नहीं होंगे। आपस में मिलकर एक साथ जाते हुए दो बैलों के देखने से सूचित होता है कि पंचम काल में मुनिजन एक दूसरों के आश्रय से रह सकेंगे, एकांकी विहार करने वाले नहीं होंगे। मेघों से अच्छादित सूर्य के देखने से सूचित होता है कि पंचम काल में प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होगा। सूखे वृक्षों को देखने से सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषों का चरित्र नष्ट हो जायेंगे तथा सोलहवें स्वप्न में सूखे हुए पत्तों को देखने से सूचित होता है कि महा औषधियों का रस नष्ट हो जायेगा। इन दो स्वप्नों का फल कालान्तर में होगा। अभी नहीं। इतना कहकर भगवान् मौन हो जाये। भरत भगवान को बारबार नमस्कार करके अपने नगर में लौट आए।

क्षत्रियधर्म का उपदेश

यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। सम्राट भरत धर्म प्रेमी था और धर्मात्मा लोगों का सम्मान करता था। अतः उसकी प्रजा भी धर्म से प्रेम करती थी। अपने राजा को धर्मात्मा जानकर आश्रित राजा भी धर्मात्मा बन गये थे

सवेरे उठते ही भरत धर्मात्मा पुरुषों के साथ धर्म का विचार करते थे। उसके पश्चात् मंत्रियों के साथ अर्थ और काम का विचार करते थे। फिर देव और गुरुओं की पूजा करके धर्मासन पर विराजमान होते थे और प्रजा के सदाचार तथा असदाचार का विचार करते थे। उसके पश्चात् अधिकारी पुरुषों को यथोचित आदेश देकर राज दरबार में पधारते थे और दरबार में उपस्थित सामन्तों में से कितने ही को दर्शन से, कितने ही को मुस्कान से, कितने ही को बातचीत से, कितने ही को सम्मान से और कितने ही को दान आदि से सन्तुष्ट करते थे। तथा भेंट लेकर आये हुए बड़े राजाओं को दूतों को सम्मानित करके विदा करते थे। जो कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए उपस्थित होते थे उन्हें भी खूब पारितोषित देकर सन्तुष्ट करते थे। इसके पश्चात् दरबार समाप्त करके भोजन करते थे, और फिर अन्तःपुर में विश्राम करते थे। जब तक पहर दिन शेष रहता था। तो अपने राजोद्यान में भ्रमण करते हुए प्रकृति की शोभा का निरीक्षण करते थे।

चक्रवर्ती भरत धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के तो पण्डित थे ही, इनके सिवा वे हस्तितंत्र, अश्वतन्त्र, आयुर्वेद, निमित्त शास्त्र, शकुनशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र के भी परगामी थे। किसी भी शास्त्र का विद्वान उनसे मिलने के पश्चात् यही धारणा लेकर लौटता था कि चक्रवर्ती उस शास्त्र के परगामी हैं। वे लोकाचार के प्रवर्तक थे तो राजशास्त्र के अधिष्ठाता थे। इस तरह उनमें लक्ष्मी और सरस्वती का अद्भुत संयोग था।

एक दिन भरत ने राजसभा में एकत्र हुए राजाओं को क्षात्रधर्म का उपदेश दिया। वे कहने लगे–हे क्षत्रिय श्रेष्ठों ! आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव ने आप लोगों को पीड़ितों की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया है। प्रजा के हित में न्यायपूर्वक वर्तन करना ही अपना कर्तव्य है। धर्म पूर्वक धन उपार्जन करना, उसकी रक्षा करना, उसे बढ़ाना और योग्य पात्र को देना ही क्षत्रियों का न्यायपूर्वक वर्तन करना है। क्षत्रिय पद की प्राप्ति रत्नत्रय के प्रताप से होती है। क्योंकि रत्नत्रय से ही तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है और तीर्थङ्कर केवल क्षत्रियवंश में जन्म लेते है। अतः धर्ममार्ग में स्वयं स्थित रहना और अन्य लोगों को भी स्थिर रखना प्रत्येक क्षत्रिय का कर्तव्य है। क्षत्रिय को अपनी बुद्धि सब कुमार्गों से हटाकर सन्मार्ग में ही लगाना चाहिये। उसे यह स्मरण रखना चाहिये कि राज्यासन में सुख का लेश भी नहीं है।

मानसिक निराकुलता का नाम ही सुख है, किन्तु राज्यकार्य में मानसिक खेद की ही बहुलता रहती है। इसके पीछे पुत्र और सहोदर भाइयों से भी दुश्मनी हो जाती है। सब ओर से सदा शंकित रहना पड़ता है। अतः योग्य उत्तराधिकारी के मिलते ही क्षत्रि को राज्यासन छोड़कर परमार्थ का साधन करना चाहिये। जो लोग राज्यसम्पत्ति से जीवनभर चिपटे रहना चाहते हैं, उन्हें वह स्वयं ही लात मारकर भगा देती है और जो उससे विरक्त रहते हैं उनके पीछे लगी रहती है। किन्तु जब तक कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी न हो राजा को प्रजा का पालन करने का ही प्रयत्न करना चाहिये। राजा को अधिक कठोर नहीं होना चाहिये। क्योंकि कठोर दण्ड देने वाले राजा से भी प्रजा उद्विग्न हो जाती है। उसे अपने सैनिकों का भी सदा ध्यान रखना चाहिये, जो सैनिक घायल हों जायें उत्तम वैद्य से उनकी चिकित्सा करानी चाहिये, और यदि वह अपंग हो जायें तो उनकी आजीविका का प्रबन्ध कर देना चाहिये। ऐसा करने से सेना सन्तुष्ट रहती है। यदि कोई सैनिक अथवा अन्य राजसेवक मर जायें तो जहाँ तक संभव हो उसके स्थान पर उसके पुत्र को नियुक्त करना चाहिये। ऐसा करने से राजा की कृतज्ञता से आकृष्ट होकर उसके सैनिक तथा सेवक प्रेम पूर्वक राजकार्य करते है। यदि कोई सेवक दरिद्रता या अन्य किसी कष्ट से पीड़ित हो तो उसका कष्ट दूर करना चाहिये। क्योंकि उचित अजीविका के न होने से

सेवक का मन सेवा से विरक्त हो जाता है। उसके सिवाय उत्तम सेवकों को सन्मानित करते रहना भी राजा का धर्म है। जो रात वीर पुरुषों को उनके योग्य सन्मानित करता है उसके सेवक कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते। अपने सेवकों की सुरक्षा का प्रयत्न करना भी राजा का कर्तव्य है, यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्यविप्लव होने पर चोर डाकू और अन्य राजा उन्हें पीड़ा देने लगेंगे। देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए राजा को आलस्य छोड़कर ग्रामों में खूब खेती करानी चाहिये और किसानों को अच्छा बीज वगैरह देकर उनकी सहायता करनी चाहिये। तथा उनके करके रूप में उचित भाग लेकर धान्य का संग्रह करना चाहिये।

राजा का कर्तव्य हे कि सब प्रजा को समान समझे। यदि कोई वर्ग विशेष अपनी पूज्यता के नाम पर राजा को धान्य का उचित अंश न देता उससे पूछना चाहिये कि आप में अन्य वर्णवालों से क्या विशेषता है ? यदि वह केवल जाति की अपेक्षा अपने को औरों से विशिष्ट बतलावे तो उससे कीना चाहिये कि किसी की जाति उसके माथे पर नहीं आती। यदि वह गुणों की अपेक्षा अपने को विशिष्ट बतलावे तो उससे कहना चाहिये, जो दयाहीन हैं, शर्म के नाम पर पशुघात करते और कराते हैं, मांस और मधु खाते हैं वे चार अक्षर पढ़ लेने से गुणी नहीं माने जा सकते।

जहाँ तक हो राजा को युद्ध से बचना चाहिये क्योंकि युद्ध में मनुष्यों का संहार होने के साथ-साथ अन्य भी अपने बुराईयां हैं। उसका अन्त कभी भी अच्छा नहीं होता। अतः यदि कोई बलवान राजा राज्यपर चढ़ाई करे तो अनुभवी पुरुषों के साथ परामर्श करके जहाँ तक उचित हो, ऐसे के साथ सन्धि कर लेना चाहिये। किन्तु दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन क्षत्रिय का धर्म है। जो राजा दण्डनीय शत्रु और पुत्र दोनों का निग्रह करता है और किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, वह बहुत ही लोकप्रिय होता है। इस प्रकार सम्राट् भरत ने क्षत्रियों को भगवान् के द्वारा दर्शित मार्ग में नियुक्त करते हुए राजधर्म का उपदेश दिया।

स्वयम्बरकी प्रथा का प्रचलन

उस समय काशी देश की वाराणसी नगरी में राजा अकम्पन राज्य करते थे। उनके एक सुलोचना नाम की पुत्री थी। एक दिन कुमारी सुलोचना ने फाल्गुन मास के अष्टान्हि का पर्व में उपवास पूर्वक जिनेन्द्र देव की पूजा की ओर पूजा के शेषाक्षत लेकर अपने पिता के पास गई। पिता राजा अकम्पन ने उठकर विनयपूर्वक उसके दिये हुए शेषाक्षतों को लेकर अपने मस्तकपर रक्खा और पुत्री को विदा किया। उस समय अपनी मस्तक पर रक्खा और पुत्री को विदा किया। उस समय अपनी कन्या को पूर्ण युवती देखकर राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसने अपने मंत्रियों को बुलाकर उनसे कहा कि हमारी कन्या के लिये सभी राजा प्रार्थी हैं अतः यह बतलाओं कि कन्या किसे दी जाये ?

एक मंत्री बोला कि चक्रवर्ती भरत के पुत्र अर्ककीर्ति को कन्या देनी चाहिये ऐसा करने से चक्रवर्ती के साथ अपना सम्बन्ध हो जायेगा और सब राजा हमारे मित्र होंगे। यह सुनकर दूसरा मंत्री बोला–अपने से बड़ों के साथ सम्बन्ध करना उचित नहीं है। इसलिये किसी अपने समकक्ष राजा के पुत्र को ही कन्या देना चाहिये, क्योंकि बराबरी का सम्बन्ध हितकर होता है।

यह सुनकर तीसरा मंत्री बोला–भूमिगोपचरियों के साथ तो हमारे सम्बन्ध पहले से ही है। अब विद्याधरों के साथ सम्बन्ध हो तो उत्तम है। सबके अन्त में चौथा मंत्री बोला–ये सभी बातें शत्रुता उत्पन्न करने वाली हैं, विद्याधरों को कन्या देने से चक्रवर्ती को बड़ा बुरा लगेगा। यह सोचेगा कि क्या भूमिगोचरियों में इनके योग्य कोई नहीं था। इस विषय में सबसे अच्छा उपाय तो स्वयंबर है। कन्या स्वयंबर में जिसे वरण करे उसे ही कन्या देनी चाहिये, ऐसा करने से किसी के साथ विरोध नहीं होगा और सर्वप्रथम हमारे महाराज के द्वारा इस प्रथा का प्रचलन करने से भगवान ऋषभदेव और सम्राट भरत के समान संसार में इनकी प्रसिद्धि होगी।

ये सुझाव सबने पसन्द किया और स्वयंबर की तैयारियाँ शुरु हो गई। सब राजाओं को निमंत्रण भेजे गये। सुलोचना के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर

राजागण वाराणसी नगरी में आने लगे । राजा अकम्पन ने अपने पुत्र के साथ सबकी अगवानी की और बड़े सुख से ठहराया । आने वालों में सम्राट् भरत के ज्येष्ट पुत्र अर्ककीर्ति तथा हस्तिनापुर के राजा जयकुमार भी थे । उस समय वाराणसी की शोभा दर्शनीय थी । जगह-जगह तोरण बन्धे हुए थे, आकाश में पताकायें फहरा रही थीं, फूलों की वर्षा हो रही थी और नगाड़ों की ध्वनि से दिशायें गूँज रही थीं ।

शुभ मूहूर्त में कन्या ने राल भवन से प्रस्थान किया । सौभाग्यवती स्त्रियाँ उसे घेरे हुए थी, ज्योतिषी विद्वान साथ में थे । आगे आगे नगाड़े बजते जाते थे । विवाह मण्डप में लाकर कन्या को सुवर्ण की चौकीपर बिठा दिया गया और विशुद्ध जल से भरे हुए कलशों से उसका अभिषेक किया । फिर वस्त्राभूषण पहिनकर कन्या ने चैत्यालय में प्रवेश किया और अर्हन्त देव की पूजा की ।

इधर सब राजा स्वयंबर मण्डप में आकर अपने-अपने आसनों में बैठ गये । अन्त में राजा अकम्पन भी अपनी रानी सुप्रभा तथा राज परिवार के साथ आकर अपने आसन पर बैठ गये । उसी समय कंचुरी के साथ कन्या ने स्वयंबर मण्डप में प्रवेश किया । वह एक सजे हुए रथ में बैठी थी और उसका बड़ा भाई हेमांगद अपने छोटे भाइयों सहित समस्त सेना के साथ रथ को चारों ओर से घेरे हुए था । कंचुकी ने विद्याधर राजाओं की ओर रथ बढ़ाया और सबका परिचय देने लगा । धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ रथ विद्याधरों को लाँघकर भूमि गोचरियों की ओर पहुँचा । कंचु की नाम ले लेकर प्रत्येक राजा का परिचय कराता जाता था ।

जैसे वसन्तऋतु में कोयल सब वृक्षों को छोड़कर आम के पास पहुँचती है वैसे ही सुलोचना भी अर्ककीर्ति आदि को छोड़ती हुई जय कुमार के पास पहुँची । चतुर कंचुकी ने कन्या के मनोभावों को जानकर तुरन्त ही रथ को रोका और वह जयकुमार के गुणों का वर्णन करने लगा- 'यह महाराज सोमप्रभ के पुत्र जय कुमार हैं । इन्होंने उत्तर भरत क्षेत्र में मेघकुमारों को जीतकर सिंहनाद किया था । तब चक्रवर्ती भरत ने इनकी वीरता से प्रसन्न होकर अपना वीरपट्ट इन्हें बांधा था और मेघेश्वर नाम रखा था ।

जयकुमार की सुन्दर आकृति और गुणों से आकृष्ट होकर सुलोचना रथ से नीचे उतरी और उसने कंचुकी के हाथ से वरमाला लेकर जयकुमार के गले में डाल दी । तुरन्त ही जीवों की मधुर ध्वनि सुनकर अन्य राजाओं के

मुख मलिन हो गये। राजा अकम्पन ने अपनी पुत्री तथा जयकुमार को आगे करके नगर में प्रवेश किया।

राजकुमार अर्ककीर्ति के एक अनुचर को जय कुमार का यह उत्कर्ष सह्य नहीं हुआ। अतः वह सब राजाओं को भड़काता हुआ बोला यह अकम्पन बड़ा दुष्ट है इसने आप लोगों को व्यर्थ ही कष्ट दिया। आप लोगों का अपमान करने के लिए ही उसने यह ढोंग रचा है और पहले से तय करके ही जयकुमार के गले में बरमाला डलवाई है।

अन्य राजाओं को उत्तेजित कर यह अनुचर अपने स्वामी अर्ककीर्ति के पास पहुँचा और बोला छहों खण्डों में उत्पन्न हुए रत्नों के दो ही स्वामी हैं। एक तुम और दूसरे तुम्हारे पिता। सब रत्नों में कन्यारत्न ही श्रेष्ठ होता है और उसमें भी सुलोचना श्रेष्ठ है। अकम्पन बड़ा दुष्ट है। उसने तुम्हें अपने घर बुलाकर तुम्हारा अपमान किया है। कहाँ बेचारा जयकुमार और कहाँ एक चक्रवर्ती का पुत्र। मैं इस अपमान को सहन नहीं कर सकता। जब साधारण प्राणी भी मानभंग हुए मानभंग को सहन नहीं कर सकते तब भला आप जैसे तेजस्वी पुरुष स्त्री के कारण हुए मानभंग को कैसे सहन कर सकते हैं ? अतः मुझे आज्ञा दीजिये। आपकी आज्ञा पाते ही अकंपन को यमराज के घर भेजकर कन्या को वरमाला के साथ लेकर आता हूँ।

इस पराजय से अर्ककीर्ति बहुत लज्जित था। अतः अनुचर की बातें सुनते ही वह क्रोध से भड़क उठा और जलते हुए स्फुलिगों के समान वचन उगलने लगा– जिस दुष्ट ने यह कन्या देकर मेरा अपमान किया है उसकी मृत्यु आ पहुँची है। मूर्ख अकम्पन नाम का ही अकम्पन है। वह नहीं जानता कि मेरे कुद्ध होने पर यह पृथ्वी कांपने लगती है। आज सोमवंश और नाथवंशरूपी अटवी मेरे क्रोधरूप अग्नि से जलकर भस्म हो जायेगी। उस समय मेरे पिता ने जय कुमार के जो वीरपट्ट बाँधा था उसे तो मैंने उनके भय से सह लिया था किन्तु आज के इस अपमान को मैं सहन नहीं कर सकता। आज मैं जय कुमार को युद्ध में दिखा दूँगा कि वह कैसा वीर है ?

चक्रवर्ती पुत्र के मर्यादा का उल्लंघन करते देख मंत्री चुप नहीं रह सका। वह बोला– तुम्हारे पितामह भगवान् ऋषभदेव के द्वारा सौंपी हुई इस पृथिवी का पालन तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे हैं। उनके बाद तुम इसका पालन करोगे। अतः इस पृथ्वी में यदि किसी की भी कुछ हानि होती है तो

उसे अपनी ही हानि मानकर तुम्हें उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। जो क्षत् से रक्षा करे और उसे क्षत्र कहते हैं। तुम उनके बड़े पुत्र हो इसलिए तुम सबसे बड़े क्षत्रिय है। जब एक कन्या की मांग अनेक पुरुष करने लगते हैं तो उस समय परस्पर के विरोध को दूर करने के लिए विद्वानों ने इस सर्वश्रेष्ठ स्वयंबर विधि का विधान किया है। कुलीन पुरुषों में से किसी एक पुरुष को कन्या अपनी इच्छानुसार वरण करती है। चाहे वह पुरुष कुरूप हो या सुरूप, गुणी हो अथवा निर्गुण, धनवान हो अथवा दरिद्र। अन्य लोगों को इसमें आपत्ति नहीं करनी चाहिये। यही न्याय है। यदि कोई इस नियम का उल्लंघन करे तो तुम्हें उसको रोकना चाहिये। इसलिये तुम जो कुछ करना चाहते हो वह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तुम्हारे पिता राजा अकंपन को भगवान ऋषभदेव के समान मानते हैं। अतः तुम्हें भी उनके प्रति नम्र व्यवहार करना चाहिये। तथा दिग्विजय के समय जय कुमार ने जो पौरुष दिखलाया था वह भी तुम्हें याद रखना चाहिये। जिस योद्धा ने शूरवीर पन की सम्भावना हो राजा को उसका सम्मान करना चाहिये। फिर जिसका पराक्रम देखा जा चुका है उसकी तो बात ही क्या है। आगे चलकर जब बिना चक्र और रत्नों की सहायता के तुम इस पृथ्वी का पालन करोगे तब जय कुमार से ही तुम्हारें कार्य सिद्ध होंगे। अतः राज्यलक्ष्मी की साक्षात् भुजाओं के समान सोमवंश और नाथवंश का उच्छेद करना तुम्हारे लिये ही हानिकर है। आज तुम्हें तीनों पुरुषार्थ प्राप्त हैं। अब न्यायमार्ग का उल्लंघन करके क्यों उन्हें नष्ट करने पर उतर आये हो। यही जयकुमार दिग्विजय के समय तुम्हारे पिता का सेनापति था। उससे युद्ध करके क्यों अपनी जयलक्ष्मी को संशय में डालते हो। यह निश्चित है कि जबरदस्ती हरी जाकर भी कन्या तुम्हारी नहीं होगी फिर क्यों व्यर्थ परस्त्री की अभिलाषी करके अपनी कीर्ति को मलिन करते हो ? सुलोचना के सिवाय अन्य भी बहुत से कन्यारत्न हैं, उन सभी कन्याओं को मैं तुम्हारे लिए लाये देता हूँ।

बुद्धिमान मंत्री के युक्तिपूर्ण वचनों का दुर्बुद्धि अर्ककीर्ति पर उल्टा ही प्रभाव हुआ। वह कहने लगा – राजा अकम्पन मेरे मान्य हैं यह मैं मानता हूँ। किन्तु उन्होंने पहले से ही जयकुमार को कन्या देना स्थिर करके जो यह नाटक रचा है, उसका निराकरण यदि मैं नहीं करूँगा तो फिर कल्पकालतक भी निराकरण नहीं हो सकेगा। इस अन्याय का निराकरण करने से चक्रवर्ती भी मुझसे अप्रसन्न नहीं होंगे बल्कि प्रसन्न ही होंगे,

क्योंकि वे अन्याय को पसन्द नहीं करते । फिर यह जयकुमार बड़ा अभिमानी हो गया है । सभी राजा इससे असन्तुष्ट हैं ! अतः इसका मानमर्दन करके मैं सब राजाओं का प्रेमभाजन भी बनूँगा । मैं सुलोचना को नहीं चाहता, क्योंकि वह तो जयकुमार के मर जाने पर विधवा हो जायेगी, मुझे तब उससे क्या प्रयोजन रह जायेगा? अतः ऐसा करने से मेरी अपकीर्ति नहीं होगी बल्कि इस अन्याय का प्रतिकार नहीं करने से ही अपकीर्ति होगी अतः चुप बैठें।

मंत्री को यह उत्तर देकर अर्ककीर्ति ने अपने सेनापति को बुलवाया और युद्ध का निश्चय करके रणभेरी बजवा दी। जब महाराज अकम्पन को यह बात ज्ञात हुई तो वे बहुत घबराये । उन्होंने अपने मंत्रियों तथा जयकुमार से परामर्श करके अर्ककीर्ति के पास दूत भेजा। किन्तु दूत निराश होकर लौट आया । भावि आशंका ने अकम्पन को विचलित कर दिया । तब जय कुमार ने उन्हें समझाया और कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं है । न्याय का उल्लंघन उसी ओर से हुआ है । अतः आप चिंता छोड़कर सुलोचना की रक्षा करें। मैं अभी अर्ककीर्ति को बन्दर की तरह बाँधकर लाता हूँ। यह कहकर जयकुमार अपनी सेना के साथ युद्ध करने चल दिये। उन्हें जाता देखकर राजा अकम्पन भी सुलोचना को उसकी माता के पास छोड़कर युद्ध करने निकल पड़े दोनों ओर की सेनाओं में बहुत समय तक घमासान युद्ध हुआ किन्तु कोई किसी को जीत नहीं सका । तब जयकुमार ने अपना हाथी अर्ककीर्ति की ओर बढ़ाया और उससे कहा कुमार ! बुद्धिमान होकर भी आप यह कैसा अकृत्य कर रहे हैं ? कुछ दुष्ट पुरुषों ने आपका मन खराब कर दिया है जिससे भरत महाराज की सेना का व्यर्थ क्षय हो रहा है। हमारा और आपका युद्ध आज ही बन्द हो जाना चाहिये। आपके इस अन्याय से आपकी अपकीर्ति होगी और भरतेश्वर को भी सुनकर खेद होगा।

किन्तु अर्ककीर्ति ने एक नहीं सुनी । तब जय कुमार ने युद्ध की इच्छा से अर्ककीर्ति की सेना को चारों ओर से घेर लिया । इतने में ही दिन अस्त हो गया । तब दोनों सेनाओं के मंत्रियों ने रात्रि में युद्ध करना अधर्म बतलाकर उन्हें युद्ध करने से विरत किया ।

दूसरे दिन फिर घमासान युद्ध हुआ । आज जयकुमार ने अर्ककीर्ति के ऊपर देवदत्त बाण का प्रयोग किया । उससे अर्ककीर्ति का रथ नष्ट हो गया, सारथी मारा गया और वह निरस्त्र खड़ा रह गया । यह देख जय

कुमार ने उसे तुरन्त पकड़कर अपने रथ में डाल लिया। अर्ककीर्ति के पकड़े जाते ही सेना भाग खड़ी हुई और युद्ध शान्त हो गया। युद्ध के पश्चात् बुद्धिमान राजा अकम्पन ने जय कुमार और अर्ककीर्ति में मेल करा दिया और अर्ककीर्ति के साथ अपनी छोटी पुत्री को विवाहकर उन्हें सम्मान सहित विदा किया। तथा बहुत सी भेंट देकर एक चतुर दूत को चक्रवर्ती के पास भेजा और उससे कह दिया कि चक्रवर्ती यहाँ के समाचार कहकर ऐसा प्रयत्न करना जिससे चक्रवर्ती हम लोगों पर अप्रसन्न न हों।

दूत ने अयोध्या पहुँचकर महाराज भरत को प्रणाम किया और भेंट देकर सब समाचार कहे तथा अकम्पन की ओर से अपने अपराध की क्षमा प्रार्थना की। चक्रवर्ती ने दूत को सादर बुलाकर अपने पास बैठाया और कहा कि महाराज अकम्पन ने तुम्हें भेजकर इस प्रकार क्यों कहलाया हैं ? वे तो हमारे पिता के तुल्य हैं। यदि मैं भी अन्याय करूँ तो उन्हें मुझे भी रोकने का अधिकार है। मुझे यह चक्रवर्ती पद न तो चक्ररत्न से मिला है, न सेना से मिला है और न पुत्रों से मिला है। यह मुझे केवल जय कुमार से मिला है। उसी ने म्लेच्छ राजाओं को जीतकर पर्वत पर मेरी कीर्ति अंकित की है। अर्ककीर्ति ने तो मेरी उस कीर्ति पर कालिमा पोती है। वह अर्ककीर्ति नहीं है बल्कि साक्षात् अयशकीर्ति ही है। आप लोगों ने उस घमण्डी को कन्या देकर बहुत बुरा किया। लो कहेंगे कि चक्रवर्ती ने अपराध करने पर भी अपने पुत्र को दण्ड नहीं दिया। महाराज अकम्पन ने मेरे इस अपयश को स्थायी बना दिया।

महाराज भरत की न्यायपूर्ण बातें सुनकर दूत का मुख खिल उठा। उसने पृथ्वीपर लेटकर चक्रवर्ती को प्रणाम किया और वहाँ से शीघ्र वाराणसी पहुँचकर अपने स्वामी से सब निवेदन किया। चक्रवर्ती के कोष से भयभीत राजा अकम्पन और जय कुमार के मुख इस सुसंवाद से कमल की तरह खिल उठे। दोनों ने दूत को सन्मान देकर विदा किया।

भगवान ऋषभदेव का निर्वाण

भगवान ऋषभदेव अपने चौरासी गणधरों के साथ मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हुए विहार करते थे। उनके संघ में चौरासी हजार मुनिराज थे, साढ़े तीन लाख आर्यिका थीं, तीन लाख श्रावक थे और पाँच लाख श्राविकायें थीं। भगवान की आयु क्रमशः क्षीण होती जाती थी और शारीरिक बन्धन से भी मुक्ति का समय निकट आता जाता था। जब केवल चौदह दिन की आयु शेष रह गई तो भगवान कैलास पर्वत पर जाकर विराजमान हो गये।

उसी दिन महाराज भरत ने स्वप्न देखा कि सुमेरू पर्वत बढ़ता-बढ़ता सिद्धि क्षेत्र तक पहुँच गया है। युवराज अर्ककीर्ति ने देखा कि स्वर्ग से एक महौषधि का वृक्ष आया और मनुष्यों के जन्म-मरण रूपी रोग को दूर करके स्वर्ग को चला गया। चक्रवर्ती के गृहपति ने स्वप्न देखा कि एक कल्पवृक्ष मनुष्यों को उनकी इच्छानुसार दान देकर स्वर्ग जाने के लिए तैयार है। सेनापति ने स्वप्न देखा कि एक सिंह पिंजरे को तोड़कर कैलास पर्वत को लाँघना चाहता है। जय कुमार के पुत्र ने स्वप्न देखा कि तीनों लोकों को प्रकाशित कर चन्द्रमा ताराओं के साथ जा रहा है। चक्रवर्ती की पटरानी सुभद्रा ने स्वप्न देखा कि इन्द्राणी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शोकमग्न बैठी है। अकम्पन के पुत्र चित्रांगद ने स्वप्न देखा कि पृथ्वी को प्रकाशित कर सूर्य ऊपर की ओर उड़ा जाता है। इस प्रकार उसी रात्रि में सब लोगों ने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही राज्य पुरोहित से उसका फल पूछा। पुराहित ने कहा कि ये स्वप्न भगवान ऋषभदेव के मोक्ष गमन के सूचक हैं।

पुरोहित स्वप्नों का फल कह रहे थे कि इतने में ही एक मनुष्य भगवान का समाचार लेकर आया। उसने कहा कि भगवान मौन हैं और सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है। यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती सब लोगों के साथ कैलाश पर्वत पर पहुँचे और भगवान को नमस्कार कर उनकी स्तुति करने लगे। जब स्तुति कर चुके तो श्रोताओं को भगवान की दिव्यध्वनि सुनाई पड़ी-तुम लोग भक्तिमान हो, निकट

भव्य हो, आगम हो जानते हो । दोष, दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु आदि पापों से भरे हुए इस संसार को छोड़ने का प्रयत्न करो । और गृहस्थाश्रम छोड़ कर गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र का अच्छी तरह अभ्यास करो । ये ही तुम्हें इस संसार से छुड़ा सकते हैं । जो लोग गृहस्थाश्रम न छोड़ सके वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करें । उतना ही आरम्भ करें जितना स्वयं कर सकते हों, उतना ही परिग्रह रखें जितना परिवार के निर्वाह के लिए आवश्यक हो । दानी बनो, शीलवान बनो और चाहे वह किसी व्यक्ति की हो, या अपने शरीर और इन्द्रियों की हो । आत्म कल्याण ही उपादेय है और सब होय हैं ।'

यह भगवान का अन्तिम सन्देश था । श्रोता चातक की तरह इन अमृत की बूँदों का पान कर रहे थे । सहसा दिव्यध्वनि के बन्द हो जाने से सब देखते रह गये । इसके पश्चात् भगवान ध्यानस्थ हो गये । महाराज भरत चौदह दिन तक दिनरात भगवान की सेवा में रत रहे ।

माद्य कृष्ण चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के समय अनेक मुनियों के साथ भगवान् पर्यङ्कासन से विराज मान हुए और उन्होंने सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती नाम के तीसरे शुक्ल ध्यान से मनोयोग, वचन योग और काययोग का निरोध करके चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किया । तथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चौथें शुक्ल ध्यान से अघाति कर्मों का नाशकर सब बन्धनों से मुक्त हो गये । मुक्त होते ही सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से प्रकाशमान शुद्ध आत्मा शरीर में से निकलकर लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्धालय में विराजमान हो गया ।

तत्काल ही मोक्ष कल्याणक की पूजा करने के लिए सुर नर एकत्र हुए और उन्होंने भगवान के शरीर का अग्नि संस्कार किया ।

भगवान के वियोग से महाराज भरत को बहुत शोक हुआ । तब भगवान के प्रमुख गणधर वृषभसेन उन्हें समझाने लगे– भरतेश्वर! इस संसार में सभी प्राणियों को इष्ट–अनिष्ट वस्तुओं का समागम होता है और अन्त में नाश हो जाता है । यह सब जानते हुए भी तुम खेदखिन्न क्यों होते हो ? भगवान ऋषभदेव तो आठों कर्मों को नष्ट कर उस मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए हैं । जहाँ न रोग है न शोक है, न जन्म है, न मृत्यु है, न बुढ़ापा है, न दुःख है, केवल सुख ही सुख है । फिर विषाद

क्यों ? इष्ट मित्रों की मृत्यु से दुःख हो सकता हैं, क्योंकि उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है । परन्तु जिसने मृत्यु को ही नष्ट करके नित्य निर्विकार शाश्वत जीवन पा लिया, उसके लिए कौन इष्ट बन्धु शोक मनायेगा ? तुम सोचते होगे कि अब मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा, उनके दिव्य वचन सुनने को नहीं मिलेंगे, उनके चरणों में अपना मस्तक झुकाकर मैं सौभाग्यशाली नहीं हो सकूँगा । ऐसा तुम्हारा सोचना यद्यपि उचित है परन्तु जो बात अब सम्भव नहीं, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है । जो भगवान पहले आँखों से दिखाई देते थे वे अब हमारे हृदय में विद्यमान हैं, उन्हें अपने चित्त में तुम सदा देख सकते हो, फिर शोक की बात ही कौन सी है ? तुम तो संसार का स्वरूप जानते हो, फिर शोक की बात ही कौन सी है ? तुम तो संसार का स्वरूप जानते हो । क्या तुम यह नहीं जानते कि अनन्त काल से भ्रमण करते रहने के कारण इस जीव के असंख्य सम्बन्धी हो चुके हैं फिर क्यों अज्ञानी की तरह व्यर्थ मोह में पड़े हो ?

गणधर के वचनामृत से भरत की शोकाग्नि शान्त हो गई । उन्होंने गणधरदेव को नमस्कार किया और अपनी भोग तृष्णा की निन्दा करते हुए नगर को लौट आये । किन्तु अब मन का मोह दूर हो गया और मन में आत्महित करने की तीव्र भावना जाग्रत हो चुकी थी । अतः उनका चित्त राज्य से उदासीन हो गया और उन्होंने अर्ककीर्ति को राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ले ली । दीक्षा लेने के बाद ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया । पहले वे छह खण्ड के ही स्वामी थे और उनके अधीन राजालोग ही उनकी पूजा करते थे । अब वे तीनों लोकों के स्वामी हो गये और सुरनर उनके पूजक हो गये ।

श्री आदिनाथ चालीसा

शीश नवा अरिहंत को, सिद्धन करूं प्रणाम ।
उपाध्याय आचार्य का, ले सुखकारी नाम ॥
सर्व साधु और सरस्वती , जिन मन्दिर सुखकार ।
आदिनाथ भगवान को, मन मंदिर में धार ॥

जै जै आदिनाथ जिन स्वामी, तीनकाल तिहुँ जग में नामी ।
भेष दिगम्बर धार रहे हो, करमों को तुम मार रहे हो ॥
हो सर्वज्ञ बात सब जानों, सारी दुनिया को पहचानों ।
नगर अयोध्या जो कहलाये, राजा नाभिराय बतलायें ॥
मरूदेवी माता के उदर से, चैत वदी नवमी को जन्मे ।
तुमने जग को ज्ञान सिखाया, कर्मभूमि का बीज उपाया ॥
कल्पवृक्ष जब लगे विघटने, जनता आई दुखड़ा कहने ।
सबका संशय जभी भगाया, सूर्य चन्द्र का ज्ञान कराया ॥
खेती करना भी सिखलाया, न्याय दण्ड आदिक समझाया ।
तुमने राज्य किया नीति का, सबक आपसे जग ने सीखा ॥
पुत्र आपका भरत बताया, चक्रवर्ती जग में कहलाया ।
बाहुबली जो पुत्र तुम्हारे, सबसे पहले मोक्ष सिधारे ॥
सुता आपकी दो बतलाई, ब्राह्मी और सुन्दरी बतलाई ।
उनको भी विद्या सिखलाई, अक्षर और गिनती बतलाई ॥
एक दिन राज सभा के अन्दर, एक अप्सरा नाची मगन होकर ।
आयु बहुत थोड़ी थी बाकी, इसलिए वह थोड़ा नाची ॥
जभी मर गई जिसे देखकर, झट आया वैराग्य उमड़कर ।
बेटों को झट पास बुलाया, राजपाट सब में बँटवाया ॥
छोड़ सभी झंझट संसारी, वन जाने की करी तैयारी ।
राव हजारों साथ सिधाये, राजपाट तज वन को धाये ॥

लेकिन जब तुमने तप कीना, सबने अपना रस्ता लीना ।
वेष दिगम्बर तजकर सबने, छाल आदि के कपड़े पहिने ॥
भूख प्यास से जब घबराये, फल आदिक खा भूख मिटाये ।
और धर्म इस भांति फलाये, जो अब दुनिया में दिखलाये ॥
छै महीने तक ध्यान लगाये, फिर भोजन करने को आये ।
भोजन विधि जाने नाहिं कोई, कैसे प्रभु का भोजन होई ॥
इसी तरह बस चलते चलते, छै महीने भोजन को बीते ।
नगर हस्तिनापुर में आये, राजा सोम श्रेयांस बताये ॥
याद जभी पिछला भव आया, तुमको फौरन ही पडगाया ।
रस गन्ने का तुमने पाया, दुनिया को उपदेश सुनाया ॥
तप कर केवल ज्ञान उपाया, मोक्ष गये सब जग हर्षाया ।
अतिशय युक्त तुम्हारा मन्दिर, एक है मरसलगंज के अन्दर ॥
उसका यह अतिशय बतलाया, कष्टक्लेश का होय सफाया ।
मानतुंग पर दया दिखाई, जंजीरें सब काट गिराई ॥
राज सभा में मान बढ़ाया, जैन धर्म जग में फैलाया ।
मुझ पर महिमा दिखलाओ, कष्ट चन्द्र का दूर भगाओ ॥

॥ सोरठा ॥

नित चालीस ही बार, पाठ करे चालीस दिन ।
खेवे धूप अपार, मरसलगंज में आय के ॥
होय कुबेर समान, जन्म दरिद्री होय जो ।
जिसके नहिं संतान, नाम वंश जग में चले ॥

आदिम तीर्थंकर प्रभो, आदिनाथ मुनिनाथ ।
आधि व्याधि अघ मद मिटे, तुम पद में मम माथ ॥
शरण चरण हैं आपके, तारण तरण जहाज ।
भव – दधि तट तक ले चलो, करुणाकर जिनराज ॥

●●●●● आचार्य श्रीविद्यासागरजी

जाप - ॐ ह्रीं अर्हं श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय नमो नमः ।